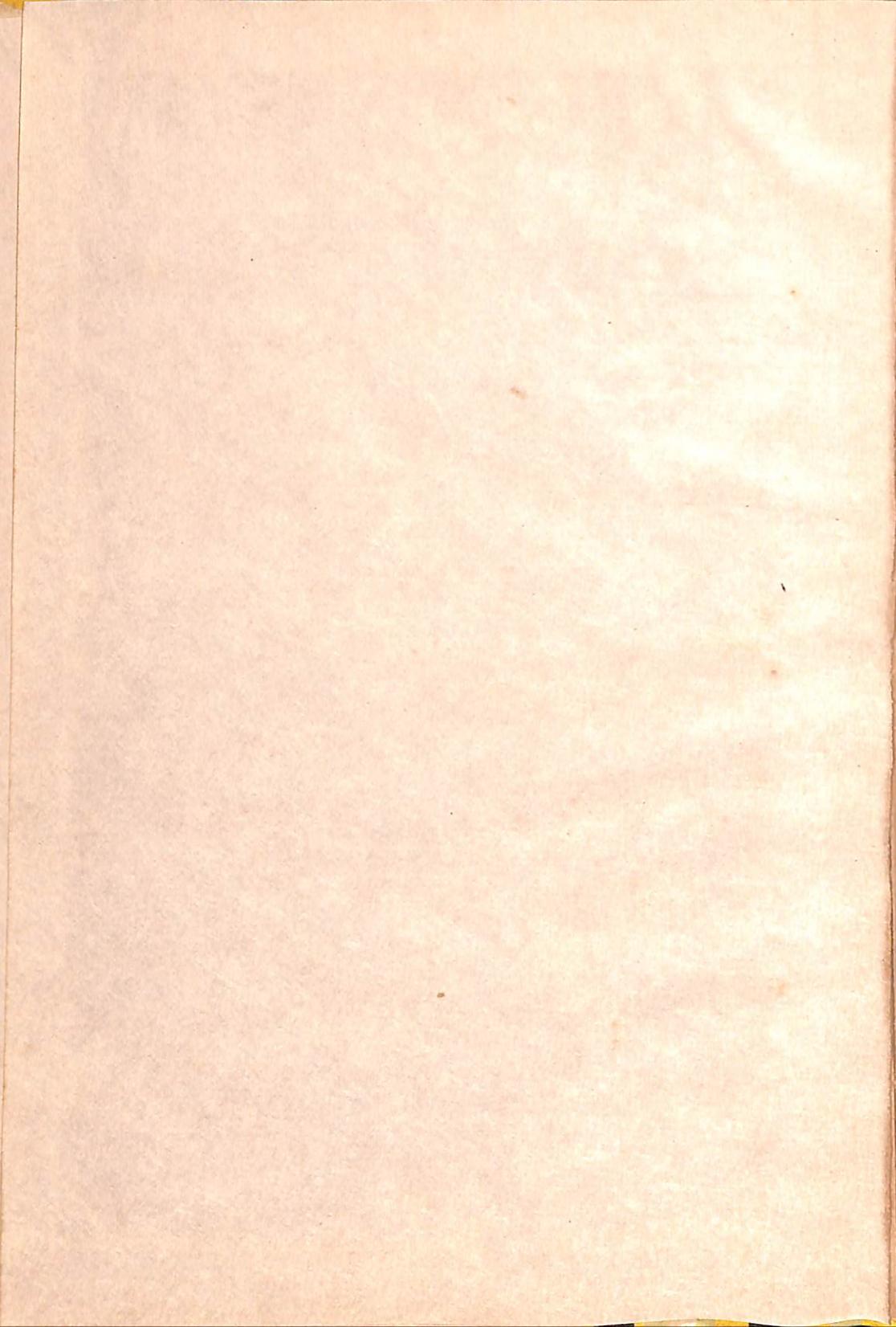


जैन दर्शन में  
ज्ञान-मीमांसा

—मुनि नथमल



श्री तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह  
के  
अभिनन्दन में

जैन दर्शन  
में  
ज्ञान-मीमांसा

मुनि नथमल

प्रबन्ध-सम्पादक  
छगनलाल शास्त्री

प्रकाशक—

सेठ मन्नलालजी सुराना

मेमोरियल ट्रस्ट

८१, सदर्न एवेन्यू, कलकत्ता-२६

प्रबन्धक—

आदर्श साहित्य संघ

चूरु ( राजस्थान )

जैन दर्शन ग्रन्थमाला :

चौदहवां पुष्प

मुद्रक :

रेफिल आर्ट प्रेस,

३१, बड़तल्ला स्ट्रीट,

कलकत्ता-७

प्रथम संस्करण १००० : मूल्य ~~१५~~ २५ न० पै०

२० २ = २५

## प्रज्ञापना

जैन दर्शन नैयायिक, मनोवैज्ञानिक एवं आनुभूतिक आदि सभी अपेक्षाओं से एक सर्वांगपूर्ण दर्शन है। जैन द्रष्टाओं और मनीषियों ने अन्तर् दर्शन से सम्बन्धित किसी भी विषय को अछूता नहीं छोड़ा। अत्यन्त पैनी दृष्टि से उन्होंने उसे परखा और अत्यन्त विस्तार एवं विरलेषण के साथ उसका विवेचन किया।

और-और विषयों की तरह 'ज्ञान' जो आत्म-दर्शन तथा साधना का मुख्य पहलू है, पर भी जो गहरा विवेचन जैन दर्शन में प्राप्त है, वह अपने आप में अनूठा है।

महान् द्रष्टा, जनवन्ध आचार्य श्री तुलसी के अन्तेगामी मुनि श्री नथमलजी द्वारा रचे 'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' से गृहीत 'जैन-दर्शन में ज्ञान-मीमांसा' नामक यह पुस्तक ज्ञान के भेद, मनोविज्ञान का आधार, स्वप्न-विज्ञान उपयोग, संज्ञा प्रभृति ज्ञान के बहुमुखी पहलुओं पर अत्यन्त गंभीर एवं तलस्पर्शी विवेचन देती है। ज्ञान जैसे दुरूह विषय का मुनिश्री ने जिस बोध-गम्य रीति से निरूपण किया है, वह उनकी शैली की अपनी विशेषता है।

श्री तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में इस पुस्तक के प्रकाशन का दायित्व सेठ मन्नालाल जी सुराना मेमोरियल ट्रस्ट, कलकत्ता ने स्वीकार किया, यह अत्यन्त हर्ष का विषय है।

तेरापंथ का प्रसार, तत्सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन, अणुव्रत आन्दोलन का जन-जन में संचार ट्रस्ट के उद्देश्यों में से मुख्य हैं। इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा अपनी उद्देश्य-पूर्ति का जो महत्त्वपूर्ण कदम ट्रस्ट ने उठाया है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है।

जन-जन में सत्त्व-प्रसार, नैतिक जागरण की प्रेरणा तथा जन-सेवा का उद्देश्य लिये चलने वाले इस ट्रस्ट के संस्थापन द्वारा प्रमुख समाजसेवी, साहित्यानुरागी श्री हनूतमलजी सुराना ने समाज के साधन-सम्पन्न व्यक्तियों के समक्ष एक अनुकरणीय कदम रखा है। इसके लिए उन्हें सादर धन्यवाद है।

आदर्श साहित्य संघ, जो सत्साहित्य के प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार का ध्येय लिये कार्य करता आ रहा है, इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का प्रबन्ध-भार ग्रहण कर अत्यधिक प्रसन्नता अनुभव करता है।

ज्ञान का यथार्थ स्वरूप आत्मसात् करने में पाठकों के लिए यह पुस्तक असाधारण रूप में सहायक हो पायेगी, ऐसी आशा है।

सरदार शहर ( राजस्थान )

आषाढ़ कृष्णा ११, २०१७

जयचन्दलाल दफ्तरी

व्यवस्थापक

आदर्श साहित्य संघ

ज्ञान क्या है ?

ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है ?

ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञान-दर्शन और संवेदना

ज्ञान और वेदना-अनुभूति

वेदना के दो रूप

ज्ञान के विभाग

इन्द्रिय

इन्द्रिय-प्राप्ति का क्रम

इन्द्रिय-व्याप्ति

मन

मन का लक्षण

मन का कार्य

मन का अस्तित्व

इन्द्रिय और मन

मन का स्थान

श्रुत या शब्दार्थ योजना

श्रुत ज्ञान की प्रक्रिया

मति श्रुत की साक्षरता

और अनक्षरता

कार्य-कारण भाव

अवधि-ज्ञान

अवधि-ज्ञान का विषय

मनः पर्याय-ज्ञान

मन पर्याय-ज्ञान का विषय

अवधि और मनः पर्याय की स्थिति

केवल-ज्ञान

ज्ञेय और ज्ञान-विभाग

ज्ञान की नियामक शक्ति

ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञान-दर्शन विषयक तीन मान्यताएँ

ज्ञेय और अज्ञेयवाद

पदार्थ की दृष्टि से

पर्याय की दृष्टि से

नियतिवाद

सर्वज्ञता का पारम्पर्य भेद

अज्ञेय

ज्ञेय का ज्ञान-साधक

ज्ञान-साधक

ज्ञान

ज्ञान का ज्ञेय

ज्ञेय का ज्ञान

ज्ञान-साधक का ज्ञेय

ज्ञेय का ज्ञान-साधक

ज्ञान का ज्ञेय

ज्ञान-साधक का ज्ञेय

ज्ञेय का ज्ञान-साधक

ज्ञान-साधक का ज्ञेय

ज्ञेय का ज्ञान-साधक

ज्ञान-साधक का ज्ञेय

ज्ञान-साधक

ज्ञेय का ज्ञान-साधक

ज्ञान-साधक का ज्ञेय

ज्ञेय का ज्ञान-साधक

ज्ञान-साधक का ज्ञेय

ज्ञान-साधक

## ज्ञान क्या है ?

जो आत्मा है, वह जानता है । जो जानता है, वह आत्मा है<sup>१</sup> ।

आत्मा और अनात्मा में अत्यन्तभाव है । आत्मा कभी अनात्मा नहीं बनता और अनात्मा कभी आत्मा नहीं बनता ।

आत्मा भी द्रव्य है और अनात्मा भी द्रव्य है<sup>२</sup> । दोनों अनन्तगुण और पर्यायों के अविच्छिन्न-समुदय हैं<sup>३</sup> । सामान्य गुण से दोनों अभिन्न भी हैं । वे भिन्न हैं विशेष गुण से । वह ( विशेष गुण ) चैतन्य है । जिसमें चैतन्य है, वह आत्मा है और जिसमें चैतन्य नहीं है, वह अनात्मा है<sup>४</sup> ।

प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणों की दृष्टि से आत्मा चित्-स्वरूप नहीं है । वह चैतन्य की दृष्टि से ही चित्-स्वरूप है<sup>५</sup> । इसीलिए कहा है—आत्मा ज्ञान से भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है किन्तु भिन्नाभिन्न है—भिन्न भी है और अभिन्न भी है<sup>६</sup> । ज्ञान आत्मा ही है, इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है<sup>७</sup> । ज्ञान गुण है, आत्मा गुणी है—ज्ञान सरीखे अनन्त गुणों का समूह है, इसलिए गुणी और गुणी के रूप में ये भिन्न भी हैं ।

आत्मा जानता है और ज्ञान जानने का साधन है । कर्ता और करण की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं<sup>८</sup> ।

तात्पर्य की भाषा में आत्मा ज्ञानमय है । ज्ञान आत्मा का स्वरूप है ।  
ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है ?

ज्ञेय और ज्ञान दोनों स्वतन्त्र हैं । ज्ञेय हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय । ज्ञान आत्मा का गुण है । न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञान से ज्ञेय । हमारा ज्ञान जाने या न जाने फिर भी पदार्थ अपने रूप में अवस्थित हैं । यदि वे हमारे ज्ञान की ही उपज हों तो उनकी असत्ता में उन्हें जानने का हमारा प्रयत्न ही क्यों होगा ? हम अदृष्ट वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकते ।

पदार्थ ज्ञान के विषय बनें या न बनें फिर भी हमारा ज्ञान हमारी आत्मा में अवस्थित है । यदि हमारा ज्ञान पदार्थ की उपज हो तो वह पदार्थ का ही धर्म होगा । हमारे साथ उसका तादात्म्य नहीं हो सकेगा ।

वस्तु स्थिति यह है कि हम पदार्थ को जानते हैं, तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता किन्तु वह उसका प्रयोग है। ज्ञान या जानने की क्षमता हममें विकसित रहती है। किन्तु ज्ञान की आवृत्त-दशा में हम पदार्थ को माध्यम के बिना जान नहीं सकते। हमारे शारीरिक इन्द्रिय और मन अचेतन हैं। इनसे पदार्थ का सम्बन्ध या सामीप्य होता है, तब वे हमारे ज्ञान को प्रवृत्त करते हैं और ज्ञेय जान लिए जाते हैं। अथवा हमारे अपने संस्कार किसी पदार्थ को जानने के लिए ज्ञान को प्रेरित करते हैं। तब वे जाने जाते हैं। यह ज्ञान की उत्पत्ति नहीं किन्तु प्रवृत्ति है। शत्रु को देख कर बन्दूक चलाने की इच्छा हुई और चलाई—यह शक्ति की उत्पत्ति नहीं किन्तु उसका प्रयोग है। मित्र को देख कर प्रेम उमड़ आया—यह प्रेम की उत्पत्ति नहीं, उसका प्रयोग है। यही स्थिति ज्ञान की है। विषय के सामने आने पर वह उसे ग्रहण कर लेता है। यह प्रवृत्ति मात्र है। जितनी ज्ञान की क्षमता होती है, उसके अनुसार ही वह जानने में सफल हो सकता है।

हमारा ज्ञान इन्द्रिय और मन के माध्यम से ही ज्ञेय को जानता है। इन्द्रियों की शक्ति सीमित है। वे अपने-अपने विषयों को मन के साथ सम्बन्ध स्थापित कर ही जान सकती हैं। मन का सम्बन्ध एक साथ एक इन्द्रिय से ही होता है। इसलिए एक काल में एक पदार्थ की एक ही पर्याय (रूप) जानी जा सकती है। इसलिए ज्ञान को ज्ञेयाकार मानने की भी आवश्यकता नहीं होती। उक्त सीमा आवृत्त-ज्ञान के लिए है। अनावृत्त-ज्ञान से एक साथ सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं।

सहज तर्क होगा कि एक साथ सभी को जानने का अर्थ है किसी को भी न जानना।

जिसे जानना है उसे ही न जाना जाय और सबके सब जाने जायं तो व्यवहार कैसे निभे ? यह ज्ञान का सांकर्य है।

जैन-दृष्टि के अनुसार इसका समाधान यों किया कि पदार्थ अपने-अपने रूप में हैं, वे संकर नहीं बनते। अनन्त पदार्थ हैं और ज्ञान के पर्याय भी अनन्त हैं। अनन्त के द्वारा अनन्त का ग्रहण होता है, यह सांकर्य नहीं है।

वाणी में एक साथ एक ही ज्ञेय के निरूपण की क्षमता है। उसके द्वारा

अनेक ज्ञेय के निरूपण की मान्यता को संकर कहा जा सकता है किन्तु ज्ञान की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। इसलिए ज्ञान की अनन्त पर्यायों के द्वारा अनन्त ज्ञेयों को जानने में कोई बाधा नहीं आती। विषय के स्थूल रूप या वर्तमान पर्याय का ज्ञान हमें इन्द्रियों से मिलता है, उसके सूक्ष्म रूप या भूत और भावी पर्यायों की जानकारी मन से मिलती है। इन्द्रियों में कल्पना, संकलन और निष्कर्ष का ज्ञान नहीं होता। मन दो या उनसे अधिक बोधों को मिला कल्पना कर सकता है। अनेक अनुभवों को जोड़ सकता है और उनके निष्कर्ष निकाल सकता है। इसीलिए यह सत्य नहीं है कि ज्ञान विषय से उत्पन्न होता है या उसके आकार का ही होता है। इन्द्रिय का ज्ञान बाहरी विषय से प्राप्त होता है। मन का ज्ञान बाहरी विषय से भी प्राप्त होता है और उसके बिना भी। हमारा प्रयोजन ज्ञेय को जानना ही होता है तब पदार्थ ज्ञेय और हमारा ज्ञान उपयोग होता है और जब हमारा उपयोग प्राप्त बोध की आलोचना में लगता है, तब पदार्थ ज्ञेय नहीं होता। उस समय पहले का ज्ञान ही ज्ञेय बन जाता है और जब हमारे जानने की प्रवृत्ति नहीं होती, तब हमारा उपयोग वापस ज्ञान बन जाता है—ज्ञेय के प्रति उदासीन हो अपने में ही रम जाता है।

### ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञान और ज्ञेय का 'विषय-विषयी-भाव' सम्बन्ध है।

जैन-दृष्टि के अनुसार :—

( १ ) ज्ञान अर्थ में प्रविष्ट नहीं होता, अर्थ ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होता।

( २ ) ज्ञान अर्थाकार नहीं है।

( ३ ) अर्थ से उत्पन्न नहीं है।

( ४ ) अर्थ रूप नहीं है—तात्पर्य कि इनमें पूर्ण अभेद नहीं है। प्रमाता ज्ञान-स्वभाव होता है, इसलिए वह विषयी है अर्थ ज्ञेय-स्वभाव होता है, इसलिए वह विषय है। दोनों स्वतन्त्र हैं। फिर भी ज्ञान में अर्थ को जानने की और अर्थ में ज्ञान के द्वारा जाने जा सकने की क्षमता है। वही दोनों के कथांचित् अभेद की हेतु है।

ज्ञान दर्शन और सम्वेदना

चैतन्य के तीन प्रधान रूप हैं—जानना, देखना और अनुभूति करना । चक्षु के द्वारा देखा जाता है, शेष इन्द्रिय और मन के द्वारा जाना जाता है । यह हमारा व्यवहार है ।

सिद्धान्त कहता है—जैसे चक्षु का दर्शन है, वैसे अक्षु ( शेष इन्द्रिय और मन ) का भी दर्शन है । अवधि और केवल का भी दर्शन है १ ।

शेष इन्द्रिय और मन के द्वारा जाना जाता है, वैसे चक्षु के द्वारा भी जाना जाता है । चक्षु का ज्ञान भी है ।

दर्शन का अर्थ देखना नहीं है । दर्शन का अर्थ है एकता या अभेद का ज्ञान । ज्ञान का अर्थ अपने आप सीमित हो गया । अनेकता या भेद को जानना ज्ञान है । ज्ञान पाँच हैं<sup>१०</sup> और दर्शन चार<sup>११</sup> । मनः पर्याय ज्ञान भेद को ही जानता है, इसलिए उसका दर्शन नहीं होता ।

विश्व न तो सर्वथा विभक्त है और न सर्वथा अविभक्त । गुण और पर्याय से विभक्त भी है, द्रव्यगत-एकता से अविभक्त भी है । आवृत ज्ञान की क्षमता कम होती है, इसलिए उसके द्वारा पहले द्रव्य का सामान्य रूप जाना जाता है, फिर उसके विभिन्न परिवर्तन और उनकी क्षमता जानी जाती है ।

अनावृत (केवल) ज्ञान की क्षमता असीम होती है । इसलिए उसके द्वारा पहले द्रव्य के परिवर्तन और उनकी क्षमता जानी जाती है फिर उनकी एकता ।

केवली पहले क्षण में अनन्त शक्तियों का पृथक्-पृथक् आकलन करते हैं और दूसरे क्षण में उन्हें द्रव्यत्व की सामान्य-सत्ता में गूँथे हुए पाते हैं । इस प्रकार केवल ज्ञान और केवल दर्शन का क्रम चलता रहता है ।

हम लोग एक क्षण में कुछ भी नहीं जान सकते । ज्ञान का सूक्ष्म प्रयत्न होते-होते असंख्य क्षणों में द्रव्य की सामान्य-सत्ता तक पहुँच पाते हैं और उसके बाद क्रमशः उसकी एक-एक विशेषता को जानते हैं—इस प्रकार हमारा चक्षु-अक्षु दर्शन पहले होता है और मति-श्रुत वाद में । विशेष को जान कर सामान्य को जानना ज्ञान और दर्शन है । सामान्य को जान कर विशेष को जानना दर्शन और ज्ञान है ।

### ज्ञान और वेदना-अनुभूति

स्पर्शन, रसन और घ्राण—ये तीन इन्द्रियाँ भोगी तथा चक्षु और श्रोत्र—ये दो कामी हैं <sup>१२</sup>। कामी इन्द्रियों के द्वारा सिर्फ विषय जाना जाता है, उसकी अनुभूति नहीं होती। भोगी इन्द्रियों के द्वारा विषय का ज्ञान और अनुभूति दोनों होते हैं।

इन्द्रियों के द्वारा हम बाहरी वस्तुओं को जानते हैं। जानने की प्रक्रिया सबकी एक-सी नहीं है। चक्षु की ज्ञान-शक्ति शेष इन्द्रियों से अधिक पटु है, इसलिए वह अस्पृष्ट रूप को जान लेता है।

श्रोत्र की ज्ञान-शक्ति चक्षु से कम है। वह स्पृष्ट शब्द को ही जान सकता है। शेष तीन इन्द्रियों की क्षमता श्रोत्र से भी कम है। वे अपने विषय को वद्व-स्पृष्ट हुए बिना नहीं जान सकते <sup>१३</sup>।

बाहरी विषय का स्पर्श किये बिना या उसके स्पर्श मात्र से जो ज्ञान होता है, वहाँ अनुभूति नहीं होती। अनुभूति वहाँ होती है, जहाँ इन्द्रिय और विषय का निकटतम सम्बन्ध स्थापित होता है। स्पर्शन, रसन और घ्राण अपने-अपने विषय के साथ निकटतम सम्बन्ध स्थापित होने पर उसे जानते हैं, इसलिए उन्हें ज्ञान भी होता है और अनुभूति भी।

अनुभूति मानसिक भी होती है पर वह बाहरी विषयों के गाढतम सम्पर्क से नहीं होती। किन्तु वह विषय के अनुरूप मन का परिणमन होने पर होती है <sup>१४</sup>।

मानसिक अनुभव की एक उच्चतम दशा भी है। बाहरी विषय के बिना भी जो सत्य का भास होता है, वह शुद्ध मानसिक ज्ञान भी नहीं है और शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान भी नहीं है। वह इन दोनों के बीच की स्थिति है <sup>१५</sup>।

### वेदना के दो रूप

( सुख-दुःख )

बाह्य जगत् की जानकारी हमें इन्द्रियों द्वारा मिलती है। उसका संवर्धन मन से होता है। स्पर्श, रस, गन्ध और रूप पदार्थ के मौलिक गुण हैं, शब्द उसकी पर्याय (अनियत-गुण) है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को जानती है। इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान का विस्तार मन से होता है। सुख और

दुख जो बाह्य वस्तुओं के योग-वियोग से उत्पन्न होते हैं, वे शुद्ध ज्ञान नहीं हैं और उनकी अनुभूति अचेतन को नहीं होती, इसलिए वे अज्ञान भी नहीं हैं। वेदना ज्ञान और बाह्य पदार्थ—इन दोनों का संयुक्त कार्य है।

सुख-दुख की अनुभूति इन्द्रिय और मन दोनों को होती है। इन्द्रियों को सुख की अनुभूति पदार्थ के निकट-संयोग से होती है।

इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभूति और कल्पना—ये दोनों मानसिक अनुभूति के निमित्त हैं।

आत्म-रमण, जो चैतन्य की विशुद्ध परिणति है, आनन्द या सहज सुख कहलाता है। वह वेदना नहीं है। वेदना शरीर और मन के माध्यम से प्राप्त होने वाली अनुभूति का नाम है। अमनस्क जीवों में केवल शारीरिक वेदना होती है। समनस्क जीवों में शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की वेदना होती है<sup>१६</sup>। एक साथ सुख-दुख दोनों की वेदना नहीं होती।

### ज्ञान के विभाग

अनावृत्त ज्ञान एक है। आवृत्त-दशा में उसके चार विभाग होते हैं। दोनों को एक साथ गिने तो ज्ञान पांच होते हैं। उनके नाम हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय और केवल।

मति और श्रुत—ये दो ज्ञान सब जीवों में होते हैं। अवधि होने पर तीन और मनःपर्याय होने पर चार ज्ञान एक व्यक्ति में एक साथ (क्षमता की दृष्टि से) हो सकते हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के पांच विकल्प बनते हैं :—

एक साथ :—मति, श्रुत

” ” मति, श्रुत, अवधि

” ” मति, श्रुत, मनः पर्याय

” ” मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय

” ” केवल

ज्ञान की तरतमता को देखा जाए तो उसके असंख्य विभाग हो सकते हैं।

ज्ञान के पर्याय अनन्त हैं<sup>१७</sup> :—

मनः पर्याय के पर्याय सबसे थोड़े हैं।

अवधि के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक ।

श्रुत के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक ।

मति के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक ।

केवल के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक ।

यह अन्तर एक दूसरे की तुलना में है । केवल-ज्ञान में कोई तरतमभाव नहीं है । शेष ज्ञानों में बहुत बड़ा तारतम्य हो सकता है । एक व्यक्ति का मति-ज्ञान दूसरे व्यक्ति के मति-ज्ञान से अनन्तगुण हीनाधिक हो सकता है<sup>१८</sup> । किन्तु इसके आधार पर किये गए ज्ञान के विभाग उपयोगी नहीं बनते ।

विभाग करने का मतलब ही उपयोगिता है । संग्रह-नय द्रव्य, गुण और पर्यायों का एकीकरण करता है । वह हमारे व्यवहार का साधक नहीं है । हमारी उपयोगिता व्यवहार-नय पर आधारित है । वह द्रव्य, गुण और पर्यायों को विभक्त करता है । ज्ञान के विभाग भी उपयोगिता की दृष्टि से किये गए हैं ।

ज्ञेय और ज्ञान—ये दो नहीं होते तो ज्ञान के कोई विभाजन की आवश्यकता नहीं होती । ज्ञेय की स्वतन्त्र सत्ता है और वह मूर्त्त और अमूर्त्त—इन दो भागों में विभक्त है । आत्मा साधनों के बिना भी जान सकता है और आवरण की स्थिति के अनुसार साधनों के माध्यम से भी जानता है ।

जानने के साधन दो हैं—इन्द्रिय और मन । इनके द्वारा ज्ञेय को जानने की आत्मिक क्षमता को मति और श्रुत कहा गया<sup>१९</sup> ।

इन्द्रिय और मन के माध्यम के बिना ही केवल मूर्त्त ज्ञेय को जानने की क्षमता को अवधि और मनः पर्याय कहा गया<sup>२०</sup> ।

मूर्त्त और अमूर्त्त सबको जानने की आत्मिक क्षमता ( या ज्ञान की क्षमता के पूर्ण विकास ) को केवल कहा गया<sup>२१</sup> ।

### इन्द्रिय

प्राणी और अप्राणी में स्पष्ट भेद-रेखा खींचने वाला चिह्न इन्द्रिय है । प्राणी असीम ऐश्वर्य सम्पन्न होता है, इसलिए वह 'इन्द्र' है । इन्द्र के चिह्न का नाम है—'इन्द्रिय' । वे पांच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ।

इनके विषय भी पांच हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, और शब्द । इसीलिए इन्द्रिय को प्रतिनियत—अर्था-ग्राही कहा जाता है । जैसे—

( १ ) स्पर्श-ग्राहक इन्द्रिय... ..स्पर्शन ।

( २ ) रस-ग्राहक इन्द्रिय... ..रसन ।

( ३ ) गन्ध-ग्राहक इन्द्रिय... ..ग्राण ।

( ४ ) रूप-ग्राहक इन्द्रिय... ..चक्षु ।

( ५ ) शब्द-ग्राहक इन्द्रिय... ..श्रोत्र ।

१—जिस प्राणी के चक्षु का आकार नहीं होता, वह रूप को नहीं जान सकता ।

२—आंख का आकार ठीक होते हुए भी कई मनुष्य रूप को नहीं देख पाते ।

३—तत्काल-मृत व्यक्ति आंख की रचना और शक्ति दोनों के होते हुए भी रूप को नहीं जान पाता ।

४—अन्यमनस्क व्यक्ति सामने आये हुए रूप को भी नहीं देखता ।

इन्द्रियों के बारे में ये चार समस्याएं हैं । इनको सुलझाने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के 'चतुष्टय' पर विचार करना आवश्यक होता है वह है :—

( १ ) निवृत्ति ( द्रव्य-इन्द्रिय ) पौद्गलिक इन्द्रिय ।

( २ ) उपकरण...शरीराधिष्ठान—इन्द्रिय ।

( ३ ) लब्धि ( भाव-इन्द्रिय )—चेतन-इन्द्रिय ।

( ४ ) उपयोग...आत्माधिष्ठान—इन्द्रिय ।

निवृत्ति—इन्द्रिय की रचना—शारीरिक संस्थान ।

उपकरण—विषय ज्ञान में सहायक—उपकारक सूक्ष्मतम पौद्गलिक अवयव लब्धि—ज्ञान-शक्ति ।

उपयोग—ज्ञान-शक्ति का व्यापार ।

प्रत्येक इन्द्रिय-ज्ञान के लिए ये चार बातें अपेक्षित होती हैं :—

( १ ) इन्द्रिय की रचना ।

( २ ) इन्द्रिय की ग्राहक-शक्ति ।

( ३ ) इन्द्रिय की ज्ञान-शक्ति ।

( ४ ) इन्द्रिय की ज्ञान-शक्ति का व्यापार ।

१—चक्षु का आकार हुए विना रूप-दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—उस प्राणी के चक्षु की 'निवृत्ति-इन्द्रिय' नहीं है ।

२—चक्षु का आकार ठीक होते हुए भी रूप का दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—उस मनुष्य की 'उपकरण-इन्द्रिय' विकृत है ।

३—आकार और ग्राहक शक्ति दोनों के होते हुए भी तत्काल—मृत व्यक्ति को रूप-दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—उसमें अब 'ज्ञान-शक्ति' नहीं रही ।

४—अन्यमनस्क व्यक्ति को आकार, विषय-ग्राहक-शक्ति और ज्ञान-शक्ति के होने पर भी रूप-दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—वह रूप-दर्शन के प्रति प्रयत्न नहीं कर रहा है ।

#### इन्द्रिय-प्राप्ति का क्रम

इन्द्रिय-विकास सब प्राणियों में समान नहीं होता । पांच इन्द्रिय के पांच विकल्प मिलते हैं :—

- ( १ ) एकेन्द्रिय प्राणी ।
- ( २ ) द्वीन्द्रिय प्राणी ।
- ( ३ ) त्रीन्द्रिय प्राणी ।
- ( ४ ) चतुरिन्द्रिय प्राणी ।
- ( ५ ) पंचेन्द्रिय प्राणी ।

जिस प्राणी के शरीर में जितनी इन्द्रियों का अधिष्ठान—आकार-रचना होती है, वह प्राणी उतनी इन्द्रिय वाला कहलाता है । प्रश्न यह होता है कि प्राणियों में यह आकार-रचना का वैषम्य क्यों ? इसका समाधान है कि जिस प्राणी के जितनी ज्ञान-शक्तियां—लब्धि-इन्द्रियां निरावरण—विकसित होती हैं, उस प्राणी के शरीर में उतनी ही इन्द्रियों की आकृतियां बनती हैं । इससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रिय के अधिष्ठान, शक्ति और व्यापार का मूल लब्धि-इन्द्रिय है । उसके होने पर निवृत्ति, उपकरण और उपयोग होते हैं ।

लब्धि के बाद दूसरा स्थान निवृत्ति का है । इसके होने पर उपकरण और उपयोग होते हैं । उपकरण के होने पर उपयोग होता है ।

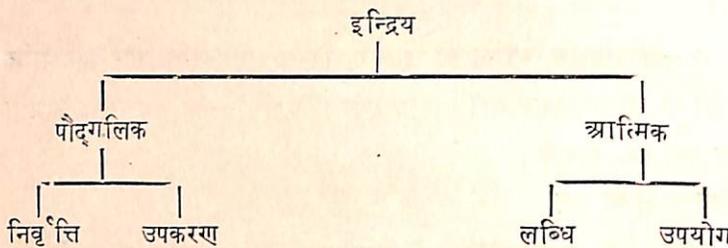
इन्द्रिय-व्याप्ति

लब्धि.....निवृत्ति.....उपकरण.....उपयोग ।

निवृत्ति.....उपकरण.....उपयोग ।

उपकरण.....उपयोग ।

उपयोग के बिना उपकरण, उपकरण के बिना निवृत्ति, निवृत्ति के बिना लब्धि हो सकती है किन्तु लब्धि के बिना निवृत्ति, निवृत्ति के बिना उपकरण, उपकरण के बिना उपयोग नहीं हो सकता ।

मन

मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है, वह मन है २२। मन भी इन्द्रिय की भांति पौद्गलिक-शक्ति-सापेक्ष होता है, इसलिए उसके दो भेद बनते हैं—द्रव्य-मन और भाव-मन ।

मनन के आलम्बन-भूत या प्रवर्तक पुद्गल-द्रव्य—मनोवर्गणा-द्रव्य जब मन रूप में परिणत होते हैं, तब वे द्रव्य-मन कहलाते हैं । यह मन अजीव है—आत्मा से भिन्न है २३।

विचारात्मक मन का नाम भाव-मन है । मन मात्र ही जीव नहीं, २४ किन्तु मन जीव भी है—जीव का गुण है, जीव से सर्वथा भिन्न नहीं है, इसलिए इसे आत्मिक—मन कहते हैं २५। इसके दो भेद होते हैं—लब्धि और उपयोग । पहला मानस ज्ञान का विकास है और दूसरा उसका व्यापार । मन को नो इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और दीर्घकालिक संज्ञा कहा जाता है ।

इन्द्रिय के द्वारा गृहीत विषयों को वह जानता है, इसलिए वह नो इन्द्रिय—ईपत् इन्द्रिय या इन्द्रिय जैसा कहलाता है । इन्द्रिय की भांति वह बाहरी साधन नहीं है ( आन्तरिक साधन है ) और उसका कोई नियत आकांक्ष नहीं है,

इसलिए वह अग्निन्द्रिय है। मन अतीत की स्मृति, वर्तमान का ज्ञान या चिन्तन और भविष्य की कल्पना करता है, इसलिए यह 'दीर्घकालिक संज्ञा' है। जैन आगमों में मन की अपेक्षा 'संज्ञा' शब्द का व्यवहार अधिक हुआ है। समनस्क प्राणी को 'संज्ञी' कहते हैं। उसका लक्षण बतलाते हुए लिखा है— जिसमें (१) सत्-अर्थ का पर्यालोचन—इहा (२) निश्चय-अपोह (३) अन्वय-धर्म का अन्वेषण—मार्गणा (४) व्यतिरेक-धर्म का स्वरूपालोचन—गवेषणा (५) यह कैसे हुआ ? यह कैसे करना चाहिए ? यह कैसे होगा ? इस प्रकार का पर्यालोचन—चिन्ता (६) यह इसी प्रकार हो सकता है— यह इसी प्रकार हुआ है—यह इसी प्रकार होगा—ऐसा निर्णय-विमर्श होता है, वह 'संज्ञी' कहलाता है<sup>२६</sup>।

### मन का लक्षण

सब अर्थों को जानने वाला ज्ञान 'मन' है। इस विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—मूर्त्त और अमूर्त्त। इन्द्रियां सिर्फ मूर्त्त-द्रव्य की वर्तमान पर्याय को ही जानती हैं, मन मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों के त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है, इसलिए मन को सर्वार्थ-ग्राही कहा गया है<sup>२७</sup>।

### मन का कार्य

मन का कार्य है—चिन्तन करना। वह इन्द्रिय के द्वारा गृहीत वस्तुओं के बारे में भी सोचता है और उससे आगे भी<sup>२८</sup>। मन इन्द्रिय-ज्ञान का प्रवर्तक है। मन को सब जगह इन्द्रिय की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। केवल इन्द्रिय द्वारा ज्ञात रूप, रस आदि का विशेष पर्यालोचन करता है, तब ही वह इन्द्रिय-सापेक्ष होता है। इन्द्रिय की गति सिर्फ पदार्थ तक है, मन की गति पदार्थ और इन्द्रिय दोनों तक है।

इन्द्रिय...पदार्थ।

मन...पदार्थ, इन्द्रिय-गृहीत पदार्थ।

मन...पदार्थ।

इहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, आगम आदि-आदि मानसिक चिन्तन के विविध पहलू हैं।

मन का अस्तित्व

न्याय सूत्रकार—‘एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते’—इस अनुमान से मन की सत्ता बतलाते हैं<sup>२९</sup> ।

वात्स्यायन भाष्यकार कहते हैं—“स्मृति आदि ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता और विभिन्न इन्द्रिय तथा उनके विषयों के रहते हुए भी एक साथ सबका ज्ञान नहीं होता, इससे मन का अस्तित्व अपने आप उतर आता है<sup>३०</sup>।”

अन्नभट्ट ने सुखादि की प्रत्यक्ष उपलब्धि को मन का लिंग माना है<sup>३१</sup>।

जैन-दृष्टि के अनुसार संशय, प्रतिभा, स्वप्न-ज्ञान, वितर्क, सुख-दुःख, क्षमा, इच्छा आदि-आदि मन के लिङ्ग हैं<sup>३२</sup>।

मन का विषय

मन का विषय ‘श्रुत’ है। श्रुत का अर्थ है—शब्द, संकेत आदि के माध्यम से होने वाला ज्ञान। कान से ‘देवदत्त’ शब्द सुना, आंख से पढ़ा फिर भी कान और आंख को शब्द मात्र का ज्ञान होगा किन्तु ‘देवदत्त’ शब्द का अर्थ क्या है?—यह ज्ञान उन्हें नहीं होगा। यह मन को होगा। अंगुली हिलती है, यह चक्षु का विषय है किन्तु वह किस वस्तु का संकेत करती है, यह चक्षु नहीं जान पाता। उसके संकेत को समझना मन का काम है<sup>३३</sup>। वस्तु के सामान्य रूप का ग्रहण, अवग्रह, ज्ञान-धारा का प्राथमिक अल्प अंश अनक्षर ज्ञान होता है। उसमें शब्द-अर्थ का सम्बन्ध, पूर्वापर का अनुसन्धान, विकल्प एवं विशेष धर्मों का पर्यालोचन नहीं होता।

इहा से साक्षात् चिन्तन शुरू हो जाता है। इसका कारण यह है कि अवग्रह में पर्यालोचन नहीं होता। आगे पर्यालोचन होता है। यावन्मात्र पर्यालोचन है, वह अक्षर-आलम्बन से ही होता है और यावन्मात्र साभिलाप या अन्तर्जल्पाकार ज्ञान होता है, वह सब मन का विषय है<sup>३४</sup>।

प्रश्न हो सकता है कि ईहा, अवाय, धारणा इन्द्रिय-परिधि में भी सम्मिलित किये गए हैं वह फिर कैसे? उत्तर साफ है—इन भेदों का आधार ज्ञान-धारा का प्रारम्भिक अंश है। वह जिस इन्द्रिय से आरम्भ होता है, उसकी अन्त तक वही संज्ञा रहती है।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—यह ज्ञानधारा का एक क्रम है। इसका मूल है अवग्रह। वह मन-संपृक्त इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ के सम्पर्क या सामीप्य में होता है। आगे स्थिति बदल जाती है। ईहा आदि ज्ञान इन्द्रिय-संपृक्त मन के द्वारा पदार्थ की असम्बद्ध दशा में होता है फिर भी उत्पत्ति-स्रोत की मुख्यता के कारण ये अपनी-अपनी परिधि से बाहर नहीं जाते।

मनोमूलक अवग्रह के बाद होने वाले ईहा आदि मन के होते हैं। मन मति-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान दोनों का साधन है। यह जैसे श्रुत शब्द के माध्यम से पदार्थ को जानता है, वैसे ही शब्द का सहारा लिए बिना शब्द आदि की कल्पना से रहित शुद्ध अर्थ को भी जानता है फिर भी अर्थाश्रयी-ज्ञान (शुद्ध अर्थ का ज्ञान) इन्द्रिय और मन दोनों को होता है, शब्दाश्रयी (शब्द का अनुसारी ज्ञान) केवल मन को ही होता है, इसलिए स्वतन्त्र रूप में मन का विषय 'श्रुत' ही है।

### इन्द्रिय और मन

मन के व्यापार में इन्द्रिय का व्यापार होता भी है और नहीं भी। इन्द्रिय के व्यापार में मन का व्यापार अवश्य होता है। मन का व्यापार अर्थावग्रह से शुरू होता है। वह पटुतर है, पदार्थ के साथ सम्बन्ध होते ही पदार्थ को जान लेता है, उसका अनुपलब्धि-काल नहीं होता, इसलिए उसे व्यञ्जनावग्रह की आवश्यकता नहीं होती।

इन्द्रिय के साथ भी मन का व्यापार अर्थावग्रह से शुरू होता है। सब इन्द्रियों के साथ मन युगपत् सम्बन्ध नहीं कर सकता, एक काल में एक इन्द्रिय के साथ ही करता है। आत्मा उपयोगमय है। वह जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मनोयोग कर जिस वस्तु में उपयोग लगाता है, तब वह तन्मयोपयोग हो जाता है। इसलिए युगपत् क्रिया-द्वय का उपयोग नहीं होता<sup>३५</sup>। देखना, चखना, सूँघना—ये भिन्न-भिन्न क्रियाएं हैं। इनमें एक साथ मन की गति नहीं होती, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। पैर की गर्मी और सिर की ठंडक दोनों एक स्पर्शन इन्द्रिय की क्रियाएं हैं, उनमें भी मन एक साथ नहीं दौड़ता।

ककड़ी को खाते समय उसके रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द, सबका ज्ञान एक साथ होता सा लगता है किन्तु वास्तव में वैसा नहीं होता। उनका

ज्ञान-काल पृथक्-पृथक् होता है। मन की ज्ञान-शक्ति अति तीव्र होती है, इसलिए उसका क्रम जाना नहीं जाता। युगपत् सामान्य-विशेष आदि अनेक धर्मात्मक वस्तु का ग्रहण हो सकता है, किन्तु दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते<sup>३६</sup>।

### मन का स्थान

मन समूचे शरीर में व्यापक है। इन्द्रिय और चैतन्य की पूर्ण व्याप्ति 'जहाँ-जहाँ चैतन्य, वहाँ-वहाँ इन्द्रिय' का नियम नहीं होता। मन की चैतन्य के साथ पूर्ण व्याप्ति होती है, इसलिए मन शरीर के एक देश में नहीं रहता उसका कोई नियत स्थान नहीं है। जहाँ जहाँ चैतन्य की अनुभूति है, वहाँ मन अपना आसन विछाए हुए है।

इन्द्रिय-ज्ञान के साथ भी मन का साहचर्य है। स्पर्शन-इन्द्रिय समूचे शरीर में व्याप्त है<sup>३७</sup>। उसे अपने ज्ञान में मन का साहचर्य अपेक्षित है। इसलिए मन का भी सकल शरीर व्याप्त होना सहज सिद्ध है। योग-परम्परा में यही तथ्य मान्य समझा जाता है। जैसे—'मनो यत्र मरुत्तत्र, मरुद् यत्र मनस्ततः। अतस्तुल्यक्रियावेतौ संवीतौ क्षीरनीरवत्<sup>३८</sup>।'

'यत्र पवनस्तत्र मनः'—इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार जहाँ पवन है, वहाँ मन है। पवन समूचे शरीर में है, यही बात मन के लिए है।

दिगम्बर आचार्य द्रव्य-मन का स्थान नाभि-कमल मानते हैं। श्वेताम्बर आचार्य इसे स्वीकार नहीं करते। मन का एक मात्र नियत स्थान भले ही न हो, किन्तु उसके सहायक कई विशेष केन्द्र होने चाहिए। मस्तिष्क के संतुलन पर मानसिक चिन्तन बहुत निर्भर है, इसलिए सामान्य अनुभूति के अतिरिक्त अथवा इन्द्रिय साहचर्य के अतिरिक्त उसके चिन्तन का साधनभूत कोई शारीरिक अवयव प्रमुख केन्द्र माना जाए, उसमें आपत्ति जैसी कोई बात नहीं लगती।

ज्ञान-शक्ति की दृष्टि से इन्द्रियां भी सर्वात्मव्यापी हैं, विषय-ग्रहण की अपेक्षा एक देशी हैं, इसलिए वे नियत देशाश्रयी कहलाती हैं। इन्द्रिय और मन—ये दोनों 'क्षेत्रौपशमिक-आवरण-विलय-जन्य' विक्रम हैं। आवरण-

विलय सर्वात्म-देशों का होता है<sup>३९</sup> । मन विषय-ग्रहण की अपेक्षा से भी शरीर व्यापी है ।

नैयायिक मन को अणु मानते हैं—इसे मनोणुत्ववाद कहा जाता है<sup>४०</sup> । बौद्ध मन को ही जीव मानते हैं—यह मनोजीववाद कहलाता है<sup>४१</sup> । जैन सम्मत मन न अणु है और न वही मात्र जीव किन्तु जीव के चैतन्य गुण की एक स्थिति है और जीव की व्याप्ति के साथ उसकी व्याप्ति का नियम है—‘जहाँ जीव वहाँ मन ।’

### श्रुत या शब्दार्थ योजना

अमुक शब्द का अमुक अर्थ होता है, इस प्रकार जो वाच्य-वाचक की सम्बन्ध-योजना होती है, वह श्रुत है । शब्द में अर्थ-ज्ञान कराने की शक्ति होती है पर प्रयोग किए बिना वह अर्थ का ज्ञान नहीं कराता । श्रुत शब्द की प्रयोग-दशा है । ‘घड़ा’—इस दो अक्षर वाले शब्द का अर्थ दो प्रकार से जाना जा सकता है—( १ ) या तो बना बनाया घड़ा सामने हो अथवा ( २ ) घट-स्वरूप की व्याख्या पढ़ने या सुनने को मिले । इनमें पहला श्रुत का अननुसारी किन्तु श्रुत-निश्चित ज्ञान है । घट सामने आया और जलादि आहरण क्रिया समर्थ मृन्मयादि घट को जान लिया । यहाँ ज्ञान-काल में श्रुत का सहारा नहीं लिया गया । इसलिए यह श्रुत का अनुसारी नहीं है, किन्तु इससे पूर्व ‘घट’ शब्द का वाच्यार्थ यह पदार्थ होता है—यह जाना हुआ था, इसलिए वह श्रुत-निश्चित है<sup>४२</sup> । ‘घट’ शब्द का वाच्यार्थ यह पदार्थ होता है, ऐसा पहले जाना हुआ न हो तो घट के सामने आने पर भी ‘यह घट शब्द का वाच्यार्थ है’—ऐसा ज्ञान नहीं होता ।

दूसरा श्रुतानुसारी ज्ञान है—‘घट अमुक-अमुक लक्षण वाला पदार्थ होता है’—यह या तो कोई वताए अथवा किसी श्रुत ग्रन्थ का लिखित प्रकरण मिले तब जाना जाता है । वताने वाले का वचन और लिखित शब्दावली को द्रव्य-श्रुत—श्रुत-ज्ञान का साधन कहा जाता है, और उसके अनुसार पढ़ने-सुनने वाले व्यक्ति को जो ज्ञान होता है, वह भाव-श्रुत—श्रुत-ज्ञान कहलाता है ।

### श्रुत ज्ञान की प्रक्रिया

( १ ) भाव-श्रुत...वक्ता के वचनाभिमुख विचार ।

- ( २ ) वचन...वक्ता के लिए वचन-योग और श्रोता के लिए द्रव्य-श्रुत ।  
 ( ३ ) मति...श्रुत-ज्ञान के प्रारम्भ में होने वाला मत्यंश—इन्द्रिय-ज्ञान ।  
 ( ४ ) भाव-श्रुत...इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा हुए शब्द-ज्ञान और संकेत-ज्ञान के द्वारा होने वाला अर्थ-ज्ञान ।

वक्ता बोलता है वह उसकी अपेक्षा वचन योग है । श्रोता के लिए वह भाव-श्रुत का साधन होने के कारण द्रव्य-श्रुत है<sup>४३</sup> । वक्ता भी भाव-श्रुत को—वचनाभिमुख ज्ञान को वचन के द्वारा व्यक्त करता है । वह एक व्यक्ति का ज्ञान दूसरे व्यक्ति के पास पहुँचता है, वह श्रुत-ज्ञान है ।

श्रुत-ज्ञान, श्रुत ज्ञान तक पहुँचे उसके बीच की प्रक्रिया के दो अंश हैं—

- ( १ ) द्रव्य-श्रुत ( २ ) मत्यंश ।

एक व्यक्ति के विचार को दूसरे व्यक्ति तक ले जाने वाला 'वचन' है, संकेत है । वचन और संकेत को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ हैं । श्रोता अपनी इन्द्रियों से उन्हें ग्रहण करता है फिर उनके द्वारा वक्ता के अभिप्राय को समझता है । इसका रूप यों बनता है :—

वक्ता का भाव-श्रुत

|

वचन

|

इन्द्रिय

|

श्रोता का भाव-श्रुत

### मति-श्रुत की साक्षरता और अनक्षरता

- ( १ ) श्रुत-अनुसारी साभिलाप ( शब्द सहित ) ज्ञान—मति-ज्ञान ।

- ( २ ) श्रुत-अनुसारी साभिलाप ( शब्द सहित ) ज्ञान—श्रुत-ज्ञान ।

मति-ज्ञान साभिलाप और अनभिलाप ( शब्द रहित ) दोनों प्रकार का होता है । श्रुत-ज्ञान केवल साभिलाप होता है<sup>४४</sup> । अर्थावग्रह साभिलाप नहीं होता । मति के शेष सब प्रकार ईहा से अनुमान तक साभिलाप होते हैं । श्रुत-ज्ञान अनभिलाप नहीं होता किन्तु साभिलाप ज्ञान मात्र श्रुत होना

चाहिए—यह बात नहीं है। कारण कि ज्ञान साक्षर होने मात्र से श्रुत नहीं कहलाता ४५। जब तक वह स्वार्थ रहता है तब तक साक्षर होने पर भी मति कहलाएगा। साक्षर ज्ञान परार्थ या परोपदेश क्षम या वचनाभिमुख होने की दशा में श्रुत बनता है। ईहा से लेकर स्वार्थानुमान तक के ज्ञान परार्थ नहीं होते—वचनात्मक नहीं होते, इसलिए 'मति' कहलाते हैं। शब्दावली के माध्यम से मनन या विचार करना और शब्दावली के द्वारा मनन या विचार का प्रतिपादन करना—व्यक्त करना, ये दो बातें हैं। मति-ज्ञान साक्षर हो सकता है किन्तु वचनात्मक या परोपदेशात्मक नहीं होता। श्रुत-ज्ञान साक्षर होने के साथ-साथ वचनात्मक होता है ४६।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—अर्थाश्रयी और श्रुताश्रयी। पानी को देख कर आंख को पानी का ज्ञान होता है, यह अर्थाश्रयी ज्ञान है। 'पानी' शब्द के द्वारा जो 'पानी द्रव्य' का ज्ञान होता है, वह श्रुताश्रयी ज्ञान है। इन्द्रियों को सिर्फ अर्थाश्रयी ज्ञान होता है। मन को दोनों प्रकार का होता है। श्रोत्र 'पानी' शब्द मात्र को सुन कर जान लेगा किन्तु पानी का अर्थ क्या है? पानी शब्द किस वस्तु का वाचक है?—यह श्रोत्र नहीं जान सकता। 'पानी' शब्द का अर्थ 'यह पानी द्रव्य है'—ऐसा ज्ञान मन को होता है। इस वाच्य-वाचक के सम्बन्ध से होने वाले ज्ञान का नाम श्रुत-ज्ञान, शब्द-ज्ञान या आगम है। श्रुत-ज्ञान का पहला अंश—जैसे, शब्द सुना या पढ़ा, वह मति-ज्ञान है और दूसरा अंश—जैसे, शब्द के द्वारा अर्थ को जानना, यह श्रुत ज्ञान है। इसीलिए श्रुत को मति पूर्वक—'मइ पुव्वं सुय' कहा जाता है ४७।

मति-ज्ञान का विषय—वस्तु अवग्रहादि काल में उसके प्रत्यक्ष होता है। श्रुत-ज्ञान का विषय उसके प्रत्यक्ष नहीं होता। 'मेरु' शब्द के द्वारा 'मेरु' अर्थ का ज्ञान करते समय वह मेरु अर्थ प्रत्यक्ष नहीं होता—मेरु शब्द प्रत्यक्ष होता है, जो श्रुत-ज्ञान का विषय नहीं है।

श्रुत-ज्ञान अवग्रहादि मतिपूर्वक होता है और अवग्रहादि मति श्रुत-निश्चित होती है। इससे इनका अन्यान्यानुगत-भाव जान पड़ता है। कार्य-क्षेत्र में ये एक नहीं रहते। मति का कार्य है, उसके सम्मुख आये हुए स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द आदि अर्थों को जानना और उनकी विविध अवस्थाओं पर विचार

करना । श्रुत का कार्य है—शब्द के द्वारा उसके वाच्य अर्थ को जानना और शब्द के द्वारा ज्ञात अर्थ को फिर से शब्द के द्वारा प्रतिपादित करने में समर्थ होना । मति को कहना चाहिए—अर्थ-ज्ञान और श्रुत को शब्दार्थ-ज्ञान ।  
कार्य-कारण-भाव

मति और श्रुत का कार्य-कारण सम्बन्ध है । मति कारण है और श्रुत कार्य । श्रुत-ज्ञान शब्द, संकेत और स्मरण से उत्पन्न अर्थ-बोध है । अमुक अर्थ का अमुक संकेत होता है, यह जानने के बाद ही उस शब्द के द्वारा उसके अर्थ का बोध होता है । संकेत को मति जानती है । उसके अवग्रहादि होते हैं । फिर श्रुत-ज्ञान होता है ।

द्रव्य-श्रुत मति ( श्रोत्र ) ज्ञान का कारण बनता है किन्तु भाव-श्रुत उसका कारण नहीं बनता, इसलिए मति को श्रुतपूर्वक नहीं माना जाता । दूसरी दृष्टि से द्रव्य-श्रुत श्रोत्र का कारण नहीं, विषय बनता है । कारण तब कहना चाहिए जब कि श्रूयमाण शब्द के द्वारा श्रोत्र को उसके अर्थ की जानकारी मिले । वैसा होता नहीं । श्रोत्र को केवल शब्द मात्र का बोध होता है । श्रुत-निश्चित मति भी श्रुत-ज्ञान का कार्य नहीं होती । 'अमुक लक्षण वाला कम्बल होता है'—यह परोपदेश या श्रुत ग्रन्थ से जाना और वैसे संस्कार बैठ गए । कम्बल को देखा और जान लिया कि यह कम्बल है । यह ज्ञान पूर्व-संस्कार से उत्पन्न हुआ, इसलिए इसे श्रुत-निश्चित कहा जाता है<sup>४८</sup> । ज्ञान-काल में यह 'शब्द' से उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिए इसे श्रुत का कार्य नहीं माना जाता ।

### अवधि ज्ञान

यह मूर्त्त द्रव्यों को साक्षात् करने वाला ज्ञान है । मूर्त्तिमान् द्रव्य ही इसके श्रेय विषय की मर्यादा है । इसलिए यह अवधि कहलाता है अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा इसकी अनेक इयत्ताएं बनती हैं । जैसे—इतने क्षेत्र और काल में इतने द्रव्य और इतने पर्यायों का ज्ञान करता है, इसलिए इसे अवधि कहा जाता है ।

### अवधि ज्ञान का विषय<sup>४९</sup>

(१) द्रव्य की अपेक्षा—जघन्य—अनन्त मूर्त्तिमान् द्रव्य, उत्कृष्ट—मूर्त्तिमान् द्रव्य मात्र ।

- (२) क्षेत्र की अपेक्षा—जघन्य—कम से कम अंगुल का असंख्यातवां भाग ।  
उत्कृष्ट—अधिक से अधिक असंख्य क्षेत्र (लोकाकाश) तथा शक्ति की कल्पना करें तो लोकाकाश जैसे और असंख्य खण्ड इसके विषय बन सकते हैं ।
- (३) काल की अपेक्षा—जघन्य—एक आवलिका का असंख्यातवां भाग,  
उत्कृष्ट—असंख्य काल ( असंख्य अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी )
- (४) भाव-पर्याय की अपेक्षा—जघन्य—अनन्त भाव-पर्याय । उत्कृष्ट—  
अनन्त भाव—सब पर्यायों का अनन्त भाग ।

अवधि ज्ञान के छह प्रकार हैं<sup>५०</sup>—

- (१) अनुगामी—जिस क्षेत्र में अवधि-ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके अतिरिक्त क्षेत्र में भी बना रहे—वह अनुगामी है ।
- (२) अननुगामी—उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त क्षेत्र में बना न रहे—वह अननुगामी है ।
- (३) वर्धमान—उत्पत्ति-काल में कम प्रकाशवान् हो और बाद में क्रमशः बढ़े—वह वर्धमान है ।
- (४) हीयमाण—उत्पत्ति-काल में अधिक प्रकाशवान् हो और बाद में क्रमशः घटे—वह हीयमाण है ।
- (५) अप्रतिपाती—आजीवन रहने वाला अथवा केवल-ज्ञान उत्पन्न होने तक रहने वाला—अप्रतिपाती है ।
- (६) प्रतिपाती—उत्पन्न होकर जो वापिस चला जाए, वह प्रतिपाती है ।

मनः पर्याय ज्ञान<sup>५१</sup> :—

यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्गल द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है । चिन्तक जो सोचता है, उसीके अनुरूप चिन्तन-प्रवर्तक पुद्गल द्रव्यों की आकृतियां—पर्यायें बन जाती हैं । वे मनः पर्याय के द्वारा जानी जाती हैं,

इसीलिए इसका नाम हुआ—मन की पर्यायों को साक्षात् करने वाला ज्ञान ।

### मनः पर्याय ज्ञान का विषय

- ( १ ) द्रव्य की अपेक्षा—मन रूप में परिणत पुद्गल-द्रव्य—मनोवर्गणा ।
- ( २ ) क्षेत्र की अपेक्षा—मनुष्य-क्षेत्र में ।
- ( ३ ) काल की अपेक्षा—असंख्य काल तक का ( पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग ) अतीत और भविष्य ।
- ( ४ ) भाव की अपेक्षा—मनोवर्गणा की अनन्त अवस्थाएं ।

### अवधि और मनः पर्याय की स्थिति

मानसिक वर्गणाओं की पर्याय अवधि-ज्ञान का भी विषय बनती हैं फिर भी मनः पर्याय मानसिक पर्यायों का स्पेशलिस्ट (specialist) है । एक डॉक्टर वह है, जो समूचे शरीर की चिकित्सा-विधि जानता है और एक वह है जो आंख का, दांत का, एक अवयव का विशेष अधिकारी होता है । यही स्थिति अवधि और मनः पर्याय की है ।

विश्व के मूल में दो श्रेणी के तत्त्व हैं—पौद्गलिक और अपौद्गलिक । पौद्गलिक मूर्त इन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय दोनों प्रकार के ज्ञायौपशमिक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है <sup>५२</sup>। अपौद्गलिक—अमूर्त केवल ज्ञायिक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है <sup>५३</sup>।

चिन्तक मूर्त के वारे में सोचता है, वैसे अमूर्त के वारे में भी । मनः पर्याय ज्ञानी अमूर्त पदार्थ को साक्षात् नहीं कर सकता । वह द्रव्य-मन के साक्षात्कार के द्वारा जैसे आत्मीय चिन्तन को जानता है, वैसे ही उसके द्वारा चिन्तनीय पदार्थों को जानता है <sup>५४</sup>। इसमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है फिर भी वह परोक्ष नहीं होता । कारण कि मनः पर्याय ज्ञान का मूल विषय मनो-द्रव्य की पर्यायें हैं । उनका साक्षात्कार करने में उसे अनुमान आदि किसी भी बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं होती ।

### केवल ज्ञान

केवल शब्द का अर्थ एक या असहाय होता है <sup>५५</sup> । ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान के अन्तर-भेद मिट कर ज्ञान एक हो जाता है । फिर उसे

इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती, इसलिए वह केवल कहलाता है।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! केवली इन्द्रिय और मन से जानता और देखता है ?

भगवान्—गौतम ! नहीं जानता-देखता।

गौतम—भगवन् ! ऐसा क्यों होता है ?

भगवान्—गौतम ! केवली पूर्व-दिशा ( या आगे ) में मित को भी जानता है और अमित को भी जानता है। वह इन्द्रिय का विषय नहीं है<sup>५६</sup>।

केवल का दूसरा अर्थ शुद्ध है<sup>५७</sup>। ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान में अशुद्धि का अंश भी शेष नहीं रहता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का तीसरा अर्थ सम्पूर्ण है<sup>५८</sup>, ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान की अपूर्णता मिट जाती है, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का चौथा अर्थ असाधारण है<sup>५९</sup>। ज्ञानावरण का विलय होने पर जैसा ज्ञान होता है, वैसा दूसरा नहीं होता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का पांचवां अर्थ 'अनन्त' है<sup>६०</sup>। ज्ञानावरण का विलय होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह फिर कभी आवृत नहीं होता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल शब्द के चार अर्थ 'सर्वज्ञता' से संबन्धित नहीं हैं। आवरण का क्षय होने पर ज्ञान एक, शुद्ध, असाधारण और अप्रतिपाती होता है। इसमें कोई लम्बा-चौड़ा विवाद नहीं है। विवाद का विषय है ज्ञान की पूर्णता। कुछ तार्किक लोग ज्ञान की पूर्णता का अर्थ बहु-श्रुतता करते हैं और कुछ सर्वज्ञता।

जैन-परम्परा में सर्वज्ञता का सिद्धान्त मान्य रहा है। केवल ज्ञानी केवल-ज्ञान उत्पन्न होते ही लोक और अलोक दोनों को जानने लगता है<sup>६१</sup>।

केवल-ज्ञान का विषय सब द्रव्य और पर्याय हैं। श्रुत-ज्ञान के विषय को देखते हुए वह अयुक्त भी नहीं लगता। मति को छोड़ शेष चार ज्ञान के अधिकारी केवली कहलाते हैं। श्रुत-केवली<sup>६२</sup>, अवधि-ज्ञान-केवली, मनः-प्रयाय-ज्ञान केवली और केवल-ज्ञान-केवली<sup>६३</sup>। इनमें श्रुत-केवली और केवल-

ज्ञान-केवली का विषय समान है। दोनों सब द्रव्यों और सब पर्यायों को जानते हैं। इनमें केवल जानने की पद्धति का अन्तर रहता है। श्रुत-केवली शास्त्रीय ज्ञान के माध्यम से व क्रमशः जानता है और केवल-ज्ञान-केवली उन्हें साक्षात् व एक साथ जानता है।

ज्ञान की कुशलता बढ़ती है, तब एक साथ अनेक विषयों का ग्रहण होता है। एक क्षण में अनेक विषयों का ग्रहण नहीं होता किन्तु ग्रहण का काल इतना सूक्ष्म होता है कि वहाँ काल का क्रम नहीं निकाला जा सकता। केवल-ज्ञान ज्ञान के कौशल का चरम-रूप है। वह एक क्षण में भी अनेक विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होता है। हम अपने ज्ञान के क्रम से उसे नापें तो वह अवश्य ही विवादास्पद बन जाएगा। उसे संभावना की दृष्टि से देखें तो वह विवाद-मुक्त भी है।

निरूपण एक ही विषय का हो सकता है। यह भूमिका दोनों की समान है। सहज स्थिति में सांकर्य नहीं होता। वह क्रियमाण कार्य में होता है। ज्ञान आत्मा की सहज स्थिति है। वचन एक कार्य है। कार्य में केवली और अकेवली का कोई भेद नहीं है। केवल-ज्ञान की विशेषता सिर्फ जानने में ही है।

### ज्ञेय और ज्ञान-विभाग

ज्ञेय का विचार चार दृष्टिकोणों से किया जाता है :—

- १—द्रव्य-दृष्टि से—मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सब द्रव्य जाने जा सकते हैं, देखे नहीं जा सकते।
- ” ” ” श्रुत-ज्ञान द्वारा सब द्रव्य जाने और देखे जा सकते हैं।
- ” ” ” अवधि-ज्ञान द्वारा अनन्त या सब मूर्त्त द्रव्य जाने और देखे जा सकते हैं।
- ” ” ” मनः पर्याय-ज्ञान द्वारा मानसिक अणुओं के अनन्तावयवी स्कन्ध जाने-देखे जा सकते हैं।
- ” ” ” केवल ज्ञान द्वारा सर्व द्रव्य जाने-देखे जा सकते हैं।
- २—क्षेत्र-दृष्टि से—मति-ज्ञान द्वारा सर्व क्षेत्र सामान्य रूप से जाना जा सकता है, देखा नहीं जा सकता।

- ” ” ” श्रुत ज्ञान द्वारा सर्व क्षेत्र जाना-देखा जा सकता है ।
- ” ” ” अवधि-ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण लोक जाना-देखा जा सकता है ।
- ” ” ” मनः पर्याय-ज्ञान द्वारा मनुष्य-क्षेत्रवर्ती मानसिक अणु जाने-देखे जा सकते हैं ।
- ” ” ” केवल-ज्ञान द्वारा सर्व-क्षेत्र जाना-देखा जा सकता है ।
- ३—काल-दृष्टि से—मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सर्व काल जाना-देखा नहीं जा सकता ।
- ” ” ” श्रुत-ज्ञान द्वारा सर्व काल जाना-देखा जा सकता है ।
- ” ” ” अवधि-ज्ञान द्वारा असंख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी परिमित अतीत और भविष्य काल जाना-देखा जा सकता है ।
- ” ” ” मनः पर्याय ज्ञान द्वारा पर्ययीपम का असंख्यातवें भाग परिमित अतीत और भविष्यत् काल जाना-देखा जा सकता है ।
- ” ” ” केवल ज्ञान द्वारा सर्व काल जाना-देखा जा सकता है ।
- ४—भाव-दृष्टि से मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सर्व पर्याय जाने जा सकते हैं, देखे नहीं जा सकते हैं ।
- ” ” ” श्रुत-ज्ञान द्वारा सर्व-पर्याय जाने-देखे जा सकते हैं ।
- ” ” ” अवधि-ज्ञान द्वारा अनन्त पर्याय ( सब द्रव्यों का अनन्तवां भाग ) जाने-देखे जा सकते हैं ।
- ” ” ” मनः पर्याय ज्ञान द्वारा मानसिक अणुओं के अनन्त-पर्याय जाने-देखे जा सकते हैं ।
- ” ” ” केवल-ज्ञान द्वारा सर्व पर्याय जाने-देखे जा सकते हैं ।

ज्ञेय के आधार पर ज्ञान के दो वर्ग बनते हैं—एक वर्ग है—श्रुत और केवल का, दूसरा है मति, अवधि और मनःपर्याय का । पहले वर्ग का ज्ञेय सर्व है और दूसरे वर्ग का ज्ञेय असर्व ।

ज्ञेय को जानने की पद्धति के आधार पर भी ज्ञान के दो वर्ग होते हैं—एक वर्ग में मति और श्रुत आते हैं; दूसरे में अवधि, मनःपर्याय और केवल ।

पहले वर्ग का ज्ञेय इन्द्रिय और मन के माध्यम से जाना जाता है और दूसरे का ज्ञेय इनके बिना ही जाना जाता है। ज्ञेय की द्विविधता के आधार पर भी ज्ञान दो वर्गों में विभक्त हो सकता है। पहले वर्ग में मति, अवधि, और मनःपर्याय हैं; दूसरे में श्रुत और केवल।

पहले वर्ग के द्वारा सिर्फ मूर्त द्रव्य ही जाना जा सकता है। दूसरे के द्वारा मूर्त और अमूर्त—दोनों प्रकार के ज्ञेय जाने जा सकते हैं।

### ज्ञान की नियामक शक्ति

हम आंख से देखते हैं, तब कान से नहीं सुनते। कान से सुनते हैं, तब इसका अनुभव नहीं करते—संक्षेप में यह कि एक साथ दो ज्ञान नहीं करते—यह हमारे ज्ञान की इयत्ता है—सीमा है। भिन्न-भिन्न दर्शनों ने ज्ञान की इयत्ता के नियामक तत्त्व भिन्न-भिन्न प्रस्तुत किये हैं। ज्ञान अर्थोत्पन्न और अर्थाकार नहीं होता, इसलिए वे उसकी इयत्ता के नियामक नहीं बनते<sup>६४</sup>। मन अणु नहीं, इसलिए वह भी ज्ञान की इयत्ता का नियामक नहीं बन सकता<sup>६५</sup>। जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान की इयत्ता का नियामक तत्त्व उसके आवरण-विलय से उत्पन्न होने वाली आत्मिक योग्यता है। आवरण-विलय आंशिक होता है (चायौपशमिक भाव) होता है। तब एक साथ अनेक विषयों को जानने की योग्यता नहीं होती। योग्यता की कमी के कारण जिस समय जिस विषय में आत्मा व्यापृत होती है, उस समय उसी विषय को जान सकती है। वस्तु को जानने का अव्यवहित साधन इन्द्रिय और मन का व्यापार (उपयोग) है। वह योग्यता के अनुरूप होता है। यही कारण है कि हम एक साथ अनेक विषयों को नहीं जान सकते। चेतना की निरावरण दशा में सब पदार्थ युगपत् जाने जा सकते हैं।

ज्ञान आत्मा का अक्षर आलोक है। वह सब आत्माओं में समान है। वह स्वयं प्रकाशी है, सदा जानता रहता है। यह सिद्धान्त की भाषा है। हमारा दर्शन इसके विपरीत है। ज्ञान कभी न्यून होता है और कभी अधिक। सब जीवों में ज्ञान की तरतमता है। वह बाहरी साधनों के अभाव में नहीं जानता और कभी जानता है और कभी नहीं जानता।

सिद्धान्त और हमारे प्रत्यक्ष-दर्शन में जो विरोध है, उसका समाधान इन शब्दों में है। आत्मा और ज्ञान की स्थिति वही है, जो सिद्धान्त की भाषा में निरूपित हुई है। जो विरोध दीखता है, वह भी सही है। दोनों के पीछे दो दृष्टियाँ हैं।

आत्मा के दो रूप हैं—आवृत और अनावृत। आत्मा ज्ञानावरण के परमाणुओं से आवृत होता है, तब वही स्थिति बनती है जो हमें दीखती है। वह ज्ञानावरण के परमाणुओं से अनावृत होता है, तब वही स्थिति बनती है, जो हमें विपरीत लगती है।

ज्ञान एक है, इसलिए उसे केवल कहा जाता है। वह सर्व ज्ञानावरण से आवृत रहता है, उस स्थिति में आत्मा निर्बाध ज्ञानमय नहीं होता। आत्मा और अनात्मा की भेद-रेखा मिट जाय, वैसा आवरण कभी नहीं होता। केवल ज्ञान का अल्पतम भाग सदा अनावृत रहता है ६६। आत्मा का आत्मत्व यही है कि वह कभी भी ज्ञान-शक्ति से शून्य नहीं होता।

विशुद्ध प्रयत्न से आवरण जितना क्षीण होता है, उतना ही ज्ञान विकसित हो जाता है। ज्ञान के विकास की न्यूनतम मात्रा और अनावृत ज्ञान के मध्यवर्ती ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म - परमाणु 'देश - ज्ञानावरण' कहलाते हैं ६७।

सर्व ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान का कोई भेद नहीं रहता, आत्मा ज्ञानमय बन जाता है। यह वह दशा है, जहाँ ज्ञान और उपयोग दो नहीं रहते।

देश-ज्ञानावरण के विलय की मात्रा के अनुसार ज्ञान का विकास होता है, वहाँ ज्ञान के विभाग बनते हैं, ज्ञान और उपयोग का भेद भी रहता है।

केवली ( जिनके सर्व ज्ञानावरण का विलय हो चुका हो ) सदा जानते हैं, और सब पर्यायों को जानते हैं।

छद्मस्थ ( जिनके देश-ज्ञानावरण का विलय हुआ हो ) जानने को तत्पर होते हैं तभी जानते हैं और जिस पर्याय को जानने का प्रयत्न करते हैं, उसीको जानते हैं।

ज्ञान-शक्ति का पूर्ण विकास होने पर जानने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता ज्ञान सतत प्रवृत्त रहता है ।

ज्ञान-शक्ति के अपूर्ण विकास की दशा में जानने का प्रयत्न किए बिना जाना नहीं जाता । इसलिए वहाँ जानने की क्षमता और जानने की प्रवृत्ति दो बन जाते हैं ।

छद्मस्थ ज्ञानावरण के विलय की मात्रा के अनुसार जान सकता है, इसलिए क्षमता की दृष्टि से वह अनेक पर्यायों का ज्ञाता है किन्तु उसका ज्ञान निरावरण नहीं होता, इसलिए वह एक काल में एक पर्याय को ही जान सकता है ।

### ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञाता ज्ञान-स्वभाव है और अर्थ ज्ञेय-स्वभाव । दोनों स्वतन्त्र हैं । एक का अस्तित्व दूसरे से भिन्न है । इन दोनों में विषय-विषयीभाव सम्बन्ध है । अर्थ ज्ञान-स्वरूप नहीं है, ज्ञान ज्ञेय-स्वरूप नहीं है—दोनों अन्योन्य-वृत्ति नहीं हैं ।

ज्ञान ज्ञेय में प्रविष्ट नहीं होता, ज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होता—दोनों का परस्पर प्रवेश नहीं होता ।

ज्ञाता की ज्ञायक-पर्याय और अर्थ की ज्ञेय-पर्याय के सामर्थ्य से दोनों का सम्बन्ध जुड़ता है ६८।

### ज्ञान-दर्शन विषयक तीन मान्यताएँ

आत्मा को आवृत-दशा में ज्ञान होते हुए भी उसकी सतत प्रवृत्ति ( उपयोग ) नहीं होती । और जो होती है उसका एक क्रम है—पहले दर्शन की प्रवृत्ति होती है फिर ज्ञान की ।

गौतम ने पूछा—“भगवन् ! छद्मस्थ मनुष्य परमाणु को जानता है पर देखता नहीं, यह सच है ? अथवा जानता भी नहीं देखता भी नहीं, यह सच है ?”

भगवान्—गौतम ! कई छद्मस्थ विशिष्ट श्रुत-ज्ञान से परमाणु को जानते हैं पर दर्शन के अभाव में देख नहीं सकते और कई जो सामान्य श्रुत-ज्ञानी होते हैं, वे न तो उसे जानते हैं और न देखते हैं ।

गौतम—भगवन् ! परम अविधि-ज्ञानी और परमाणु को जिस समय जानते हैं, उस समय देखते हैं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते हैं ?

भगवान्—गौतम ! नहीं, वे जिस समय परमाणु को जानते हैं, उस समय देखते नहीं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नहीं ।

गौतम—भगवन् ! ऐसा क्यों नहीं होता ?

भगवान्—गौतम ! “ज्ञान साकार होता है और दर्शन अनाकार,” इसलिए दोनों एक साथ नहीं हो सकते ६९। यह केवल ज्ञान-और केवल-दर्शन की क्रमिक मान्यता का आगमिक पक्ष है । अनावृत आत्मा में ज्ञान सतत प्रवृत्त रहता है और छद्मस्थ को ज्ञान की प्रवृत्ति करनी पड़ती है ७० । छद्मस्थ को ज्ञान की प्रवृत्ति करने में असंख्य समय लगते हैं और केवली एक समय में ही अपने ज्ञेय को जान लेते हैं ७१। इस पर से यह प्रश्न उठा कि केवल एक समय में समूचे ज्ञेय को जान लेते हैं तो दूसरे समय में क्या जानेंगे ? वे एक समय में जान सकते हैं, देख नहीं सकते या देख सकते हैं, जान नहीं सकते तो उनका सर्वज्ञत्व ही टूट जाएगा ?

इस प्रश्न के उत्तर में तर्क आगे बढ़ा । दो धाराएँ और बन गईं । मल्लवादी ने केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के युगपत् होने और सिद्धसेन दिवाकर ने उनके अभेद का पक्ष प्रस्तुत किया ७२।

दिगम्बर-परम्परा में केवल युगपत्-पक्ष ही मान्य रहा ७३। श्वेताम्बर-परम्परा में इसकी क्रम, युगपत् और अभेद—ये तीन धाराएँ बन गईं ?

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के महान् तार्किक यशोविजयजी ने इसका नय-दृष्टि से समन्वय किया है ७४। ऋजु-सूत्र नय की दृष्टि से क्रमिक पक्ष संगत है । यह दृष्टि वर्तमान समय को ग्रहण करती है । पहले समय का ज्ञान कारण है और दूसरे समय का दर्शन उसका कार्य है । ज्ञान और दर्शन में कारण और कार्य का क्रम है । व्यवहार-नय भेदस्पर्शी है । उसकी दृष्टि से युगपत्-पक्ष भी संगत है । संग्रह नय अभेद-स्पर्शी है । उसकी दृष्टि से अभेद-पक्ष भी संगत है । इन तीनों धाराओं को तर्क-दृष्टि से देखा जाय तो इनमें अभेद-पक्ष ही संगत लगता है । जानने और देखने का भेद परोक्ष या अपूर्ण ज्ञान की स्थिति में होता है । वहाँ वस्तु के पर्यायों को जानते समझ

उसका सामान्य रूप नहीं देखा जा सकता । और उसके सामान्य रूप को देखते समय उसके विभिन्न पर्याय नहीं जाने जा सकते । प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञान की दशा में ज्ञेय का प्रति समय सर्वथा साक्षात् होता है । इसलिए वहाँ यह भेद न होना चाहिए ।

दूसरा दृष्टिकोण आगमिक है, उसका प्रतिपादन स्वभाव-स्पर्शी है । पहले समय में वस्तु गत-भिन्नताओं को जानना और दूसरे समय में भिन्नतागत-अभिन्नता को जानना स्वभाव-सिद्ध है । ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है । भेदोन्मुखी ज्ञान सबको जानता है और अभेदोन्मुखी दर्शन सबको देखता है । भेद में अभेद और अभेद में भेद सगाया हुआ है । फिर भी भेद-प्रधान ज्ञान और अभेद-प्रधान दर्शन का समय एक नहीं होता ।

### ज्ञेय-अज्ञेयवाद

ज्ञेय और अज्ञेय की मीमांसा ( १ ) द्रव्य ( वस्तु या पदार्थ ) ( २ ) क्षेत्र ( ३ ) काल ( ४ ) भाव ( पर्याय या अवस्था ) इन चार दृष्टियों से होती है<sup>७५</sup> । सर्वज्ञ के लिए सब कुछ ज्ञेय है । असर्वज्ञ—छद्मस्थ के लिए कुछ ज्ञेय है और कुछ अज्ञेय—सापेक्ष है ।

### पदार्थ की दृष्टि से

पदार्थ दो प्रकार के हैं—(१) अमूर्त्त (२) मूर्त्त । मूर्त्त पदार्थ का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा विकल-परमार्थ-प्रत्यक्ष ( अवधि तथा मनः पर्याय ) से साक्षात्कार होता है । इसलिए वह ज्ञेय है, अमूर्त्त-पदार्थ अज्ञेय है<sup>७६</sup> ।

मानस ज्ञान—श्रुत या शब्द-ज्ञान परोक्षतया अमूर्त्त और मूर्त्त सभी पदार्थों को जानता है, अतः उसके ज्ञेय सभी पदार्थ हैं<sup>७७</sup> ।

### पर्याय की दृष्टि से

तीन काल की सभी पर्यायें अज्ञेय हैं । त्रैकालिक कुछ पर्यायें ज्ञेय हैं<sup>७८</sup> । संक्षेप में छद्मस्थ के लिए दस वस्तुएं अज्ञेय हैं । सर्वज्ञ के लिए वे ज्ञेय हैं<sup>७९</sup> । ज्ञेय भी अनन्त और ज्ञान भी अनन्त—यह कैसे बन सकता है ? ज्ञान में अनन्त ज्ञेय को जानने की क्षमता नहीं है, यदि है तो ज्ञेय सीमित हो जाएगा । दो असीम विषय-विषयी-भाव में नहीं बंध सकते । अज्ञेयवाद या असर्वज्ञतावाद की ओर से ऐसा प्रश्न उपस्थित किया जाता रहा है ।

जैन दर्शन सर्वज्ञतावादी है। उसके अनुसार ज्ञानावरण का विलय (ज्ञान को ढाँकने वाले परमाणुओं का वियोग) होने पर आत्मा के स्वभाव का प्रकाश होता है। अनन्त, निरावरण, कृत्स्न, परिपूर्ण, सर्वद्रव्य-पर्याय साक्षात्कारी ज्ञान का उदय होता है, वह निरावरण होता है, इसीलिए वह अनन्त होता है। ज्ञान का सीमित भाव आवरण से बनता है। उसका आवरण हटता है, तब उसकी सीमितता भी मिट जाती है। फिर केवली (निरावरण ज्ञानी) अनन्त को अनन्त और सान्त को सान्त साक्षात् जानने लगता है। अनुमान से जैसे अनन्त जाना जाता है, वैसे प्रत्यक्ष से भी अनन्त जाना जा सकता है। अनन्तता अनुमान और प्रत्यक्ष दोनों का ज्ञेय है। उनकी अनन्त विषयक जानकारी में कोई अन्तर नहीं है, अन्तर सिर्फ जानकारी के रूप में है। अनुमान से अनन्त का अस्पष्ट आकलन होता है और प्रत्यक्ष से उसका स्पष्ट दर्शन। अनन्त ज्ञान से अनन्त वस्तु अनन्त ही जानी जाती है। इसीलिए उसकी अनन्तता का अन्त नहीं होता—असीमता सीमित नहीं होती। सर्वज्ञ जैसे को वैसा ही जानता है। जो जैसे नहीं है, उसे जैसे नहीं जानता। सान्त को अनन्त और अनन्त को सान्त जानना अर्थार्थ-ज्ञान है। यथार्थ-ज्ञान वह है, जो सान्त को सान्त और अनन्त को अनन्त जाने। सर्वज्ञ अनन्त को अनन्त जानता है। इसमें दो असीम तत्त्वों का परस्परकलन है<sup>८०</sup>। ज्ञान और ज्ञेय एक दूसरे से आवद्ध नहीं हैं। ज्ञान की असीमता का हेतु उसका निरावरण भाव है। ज्ञेय की असीमता उसकी सहज स्थिति है। ज्ञान और ज्ञेय का आपस में प्रतिबन्धकभाव नहीं है। अनन्त ज्ञेय अनन्तानन्त ज्ञान से ही जाना जाता है।

ज्ञेय अनन्त हैं। निरावरण ज्ञान अनन्तानन्त हैं, अनन्त—अनन्त ज्ञेय को जानने की क्षमता वाला है। परमावधि ज्ञान का विषय (ज्ञेय) समूचा लोक है। क्षमता की दृष्टि से ऐसे लोक असंख्य और हों तो भी वह उसे साक्षात् कर सकता है। यह सावरण ज्ञान की स्थिति है। निरावरण ज्ञान की क्षमता इससे अनन्त गुण अधिक है।

### नियतिवाद

सर्वज्ञता निश्चय-दृष्टि या वस्तु-स्थिति है। सर्वज्ञ जो जानता है, वह जैसे ही होता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता।

परिवर्तन व्यवहार-दृष्टि का विषय है। पुरुषार्थ का महत्त्व निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से है। निश्चय-दृष्टि का पुरुषार्थ आवश्यकतानुरूप और निश्चित दिशा-गामी होता है। व्यवहार दृष्टि स्थूल-समझ पर आश्रित होती है। इसलिए उसका पुरुषार्थ भी वैसा ही होता है। ज्ञानमात्र से क्रिया सिद्ध नहीं होती। इसलिए ज्ञान की निश्चितता और अनिश्चितता दोनों स्थितियों में पुरुषार्थ अपेक्षित होता है। ज्ञान और क्रिया का पूर्ण सामञ्जस्य भी नहीं है। इनकी कारण-सामग्री भिन्न होती है। सर्वज्ञ सब कुछ जान लेते हैं, पर सब कुछ कर नहीं पाते।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! केवली अभी जिस आकाश-खण्ड में हाथ-पैर रखते हैं, उसी आकाश-खण्ड में फिर हाथ-पैर रखने में समर्थ हैं ?

भगवान्—गौतम ! नहीं हैं।

गौतम—यह कैसे भगवन् ?

भगवान्—गौतम ! केवली वीर्य, योग और पौद्गलिक द्रव्य-युक्त होते हैं, इसलिए उनके उपकरण हाथ-पैर आदि चल होते हैं। वे चल होते हैं, इसलिए केवली जिन आकाश प्रदेशों पर हाथ-पैर रखते हैं, उन्हीं आकाश प्रदेशों पर दुबारा हाथ-पैर रखने में समर्थ नहीं होते <sup>८१</sup>।

ज्ञान का कार्य जानना है। क्रिया शरीर-सापेक्ष है। शारीरिक स्पन्दन के कारण पूर्व अवगाह-क्षेत्र का फिर अवगाहन नहीं किया जा सकता। इसमें ज्ञान की कोई त्रुटि नहीं है। वह शारीरिक चलभाव की विचित्रता है। नियति एक तत्त्व है। वह मिथ्यावाद नहीं है। नियतिवाद जो नियति का ही एकान्त आग्रह रखता है, वह मिथ्या है। सर्वज्ञता के साथ नियतिवाद की बात जोड़ी जाती है। वह कोरा आग्रह है। असर्वज्ञ के निश्चित ज्ञान के साथ भी वह जुड़ती है। सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण निर्णीत समय पर होते हैं। ज्योतिर्विदों के द्वारा किया हुआ निर्णय उनकी स्वयंभावी क्रिया में विघ्न नहीं डालता। मनुष्यों के भाग्य के बारे में भी उन्हीं के जैसे (असर्वज्ञ) मनुष्यों द्वारा किये गए निर्णय उनके प्रयत्नों में विघ्न नहीं बनते। नियतिवाद के काल्पनिक भय से सर्वज्ञता पर कटाक्ष नहीं किया जा सकता। गोशालक के

नियतिवाद का हेतु भगवान् महावीर का निश्चित ज्ञान है। भगवान् महावीर साधना-काल में विहार कर रहे थे। सर्वज्ञता का लाभ हुआ नहीं था।

शरद् ऋतु का पहला महीना चल रहा था। गरमी और सरदी की संधि-वेला में बरसात चल बसी थी। काती की कड़ी धूप मिट रही थी और सरदी मृगसर की गोद में खेलने को उत्सुक हो रही थी। उस समय भगवान् महावीर सिद्धार्थ-ग्राम नगर से विहार कर कूर्मग्राम नगर को जा रहे थे। उनका एक मात्र शिष्य मंखलीपुत्र गोशालक उनके साथ था। सिद्धार्थ ग्राम से वे चल पड़े। कूर्मग्राम अभी आया नहीं। बीच में एक घटना-चक्र बनता है।

मार्ग के परिपार्श्व में एक खेत लहलहा रहा था। उसमें था एक तिल का पौधा। पत्ते और फूल उसकी श्री को बढ़ा रहे थे। उसकी नयनाभिराम हरियाली बरबस पत्थकों की दृष्टि अपनी ओर खींच लेती थी। गोशालक की दृष्टि सहसा उस पर जा पड़ी। वह रुका, झुका, वन्दना की और नम्र स्वर में बोला—भगवान् ! देखिए, यह तिल का पौधा जो सामने खड़ा है, क्या पकेगा या नहीं ? इसके सात फूलों में रहे हुए सात जीव मर कर कहाँ जाएंगे, कहाँ पैदा होंगे ?

भगवान् बोले—“गोशालक। यह तिल-गुच्छ पकेगा, नहीं पकेगा ऐसा नहीं। इसके सात फूलों के सात जीव मर कर इसी की एक फली ( तिल-संकुलिका या तिल-फलिका ) में सात तिल बनेंगे।”

गोशालक ने भगवान् को सुना, पर जो सुना उसमें श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई, प्रतीति नहीं हुई, वह रुचा नहीं। उसकी अश्रद्धा, अप्रतीति और अरुचि ने उसे परीक्षा की संकरी पगडंडी में ला पटका। उसकी प्रयोग-बुद्धि में केवल अश्रद्धा ही नहीं किन्तु नैसर्गिक तुच्छता भी थी। वैसी तुच्छता जो सत्यान्वेषी के जीवन में अभिशाप बन कर आती है।

भगवान् आगे बढ़ चले। गोशालक धीमी गति से पीछे सरका, मन के तीव्र वेग ने गति में और शिथिलता ला दी। उसकी प्रयोग-दृष्टि में सत्य की शुद्ध जिज्ञासा नहीं थी। वह अपने धर्माचार्य के प्रति सद्भावनाशील भी अब नहीं रहा था। वह भगवान् को मिथ्यावादी ठहराने पर तुला हुआ था।

विचारों का तुमुल-संघर्ष सर पर लिए वह उस तिल-स्तम्ब के पास जा पहुँचा । उसे गहरी दृष्टि से देखा । गोशालक के हाथ उसकी ओर बढ़े । कुछ ही क्षणों में तिल-स्तम्ब जमीन से ऊपर उठ आया । गोशालक ने उसे उखाड़ कर ही सन्तोष नहीं माना । वह उसे हाथ में लिए चला और कुछ आगे जा एकान्त में डाल आया । महावीर आगे चले जा रहे थे । वे निश्चल थे । इसीलिए अपने सत्य पर निश्चल थे । उनकी निरपेक्षता उन्हें स्वयं सहारा दे रही थी आगे बढ़ने के लिए । गोशालक भगवान् की ओर चल पड़ा ।

परिस्थिति का मोड़ कब कहाँ कैसा होता है, इसे जानना सहज नहीं । विश्व की समूची घटनावलिवाँ और कार्य-कारण भाव की शृंखलाएं ऐसी बनती-बुझती हैं, जो अनहोने जैसे को बना डालती हैं और जो होने को है, उसे बिखेर डालती हैं । केवल परिस्थिति की दासता जैसे निरा धोखा है, वैसे ही केवल पौरुष का अभिमान भी निरा अज्ञान है । परिस्थिति और पुरुषार्थ अनुकूल क्षेत्र-काल में मिलते हैं, व्यक्ति की पूर्व-क्रिया से प्रेरित हो चलते हैं तभी कुछ बनने का बनता है और विगड़ने का विगड़ता है । गोशालक के पैर भगवान् महावीर की ओर आगे बढ़े, पवन की गति में परिवर्तन आया । खाली आकाश वादलों से छा गया । खाली वादल पानी से भर गए । गाज की गड़गड़ाहट और विजली की कौंध ने वातावरण में खिंचाव-सा ला दिया । देखते-देखते धरती गीली हो गई । धीमे-धीमे गिरा बूंदों ने रज रेणु को थाम लिया । कीचड़ उनसे बढ़ा नहीं । तत्काल उखाड़ फेंका हुआ वह तिल-स्तम्ब अनुकूल सामग्री पा फिर अंकुरित हो उठा, बद्धमूल हो उठा, जहाँ गिरा था वहीं प्रतिष्ठित हो गया । सात तिल-फूलों के सात जीव मरे । उसी तिल-स्तम्ब की एक फली में सात तिल बन गए ।

भगवान् महावीर जनपद-विहार करते-करते फिर कूर्म-ग्राम आये । वहाँ से फिर सिद्धार्थ-ग्राम नगर की ओर चले । मार्ग वही था । वे ही थे दोनों गुरु शिष्य । समय वह नहीं था । ऋतु-परिवर्तन हुआ । परिस्थिति भी बदल चुकी थी । किन्तु मनुष्य वात का पक्का होता है । आग्रह कब जल्दी से छूटता है । गोशालक की गति ही अधीर नहीं थी, मन भी अधीर था । प्रतीक्षा के क्षण लम्बे होते हैं, फिर भी कटते हैं । वह खेत आ गया । गोशालक

बोला—“भगवान् ! ठहरिए । यह वही खेत है, जहाँ हमने इससे पूर्व विहार में कुछ क्षण बिताए थे । यह वही खेत है, जहाँ हमने तिल-स्तम्भ देखा था । यह वही खेत है जहाँ भगवान् ने मुझे कहा था—‘यह तिल-स्तम्भ पकेगा’ ? किन्तु भगवान् ! वह भविष्यवाणी अफल हो गई । वह तिल-स्तम्भ नहीं पका, नहीं पका और नहीं पका । वे सात-फूलों के सात जीव मर कर नए सिरे से एक फली में सात तिल नहीं बने, नहीं बने और नहीं बने । सच कह रहा हूँ मैं मेरे धर्माचार्य ! प्रत्यक्ष से बढ़ कर दूसरा कोई प्रमाण नहीं होता । भगवान् सब सुनते रहे । वे शान्त, मौन और अविचलित थे । गोशालक की भवितव्यता ने प्रेरित किया भगवान् को बोलने के लिए, कुछ कहने के लिए, रहस्य को सामने ला रखने के लिए । भगवान् बोले—गोशालक ! मैं जानता हूँ, तूने मेरी बात पर विश्वास नहीं किया था । तू आकुल था मेरी भविष्यवाणी को मिथ्या ठहराने के लिए । मुझे मालूम है गोशालक ! उसके लिए तू जो करना चाहता था, वह कर चुका । किन्तु परिस्थिति ने तेरा साथ नहीं दिया । तिल-स्तम्भ के उखाड़ फेंकने से लेकर उसके फिर से पकने तक की सारी कहानी भगवान् ने सुना डाली । इसके साथ-साथ परिवर्तवाद का सिद्धान्त भी समझा डाला । भगवान् बोले—“गोशालक ! वनस्पति में परिवृत्त्य-परिहार ( पउट्ट परिहार ) होता है । वनस्पति के जीव एक शरीर से मर कर फिर उसी शरीर में जन्म ले लेते हैं ।” गोशालक नियति के हाथों खेल रहा था । उसे भगवान् की वाणी में विश्वास नहीं हुआ । वह धीरज की बांध तोड़ कर चला । उस जगह गया, जहाँ तिल-स्तम्भ तोड़ फेंका था । उसने देखा, आश्चर्य भरी दृष्टि से देखा—वह तिल-स्तम्भ फिर से खड़ा हो गया है । उसने नजदीकी से देखा उसके गुच्छों में एक फली भी निकल आई है । संशय की आतुरता ने भुला दिया—“वनस्पति चेतन होती है, उसे स्पर्शमात्र से वेदना होती है, उसे छूना जैन-मुनि की मर्यादा के अनुकूल नहीं है आदि-आदि ।” उसके हाथ आगे बढ़े, फली को तोड़ा । अन्दर तिल निकले । उन्हें गिना, वे सात थे । गोशालक स्तब्ध-सा रह गया । उसके दिल में आया ( ऐसा अध्यवसाय बना ) “बस पीछे का सब बेकार । अब मुझे तत्व मिल गया है । सत्य है नियतिवाद और सत्य है परिवर्तवाद । मनुष्य के लाख

प्रयत्न करने पर भी जो होने का है वह नहीं बदलता । यह सारा घटना-चक्र नियति के अधीन है । भवितव्यता ही सब कुछ बनाती विगाड़ती है । मनुष्य उसी महाशक्ति की एक रेखा है जो उसी से कर्तृत्व पा कुछ करने का दम भरता है ।”

परिवर्तवाद भी वैसा ही व्यापक है जैसा कि नियतिवाद । सब जीव परिवृत्त्य-परिहार करते हैं । इस एक घटना ने गोशालक की दिशा बदल दी । अब गोशालक भगवान् महावीर का शिष्य नहीं रहा । वह आजीवक-सम्प्रदाय का आचार्य बन गया, नियतिवाद और परिवर्तवाद का प्रचारक बन गया । अब वह ‘जिन’ कहलाने लगा ।

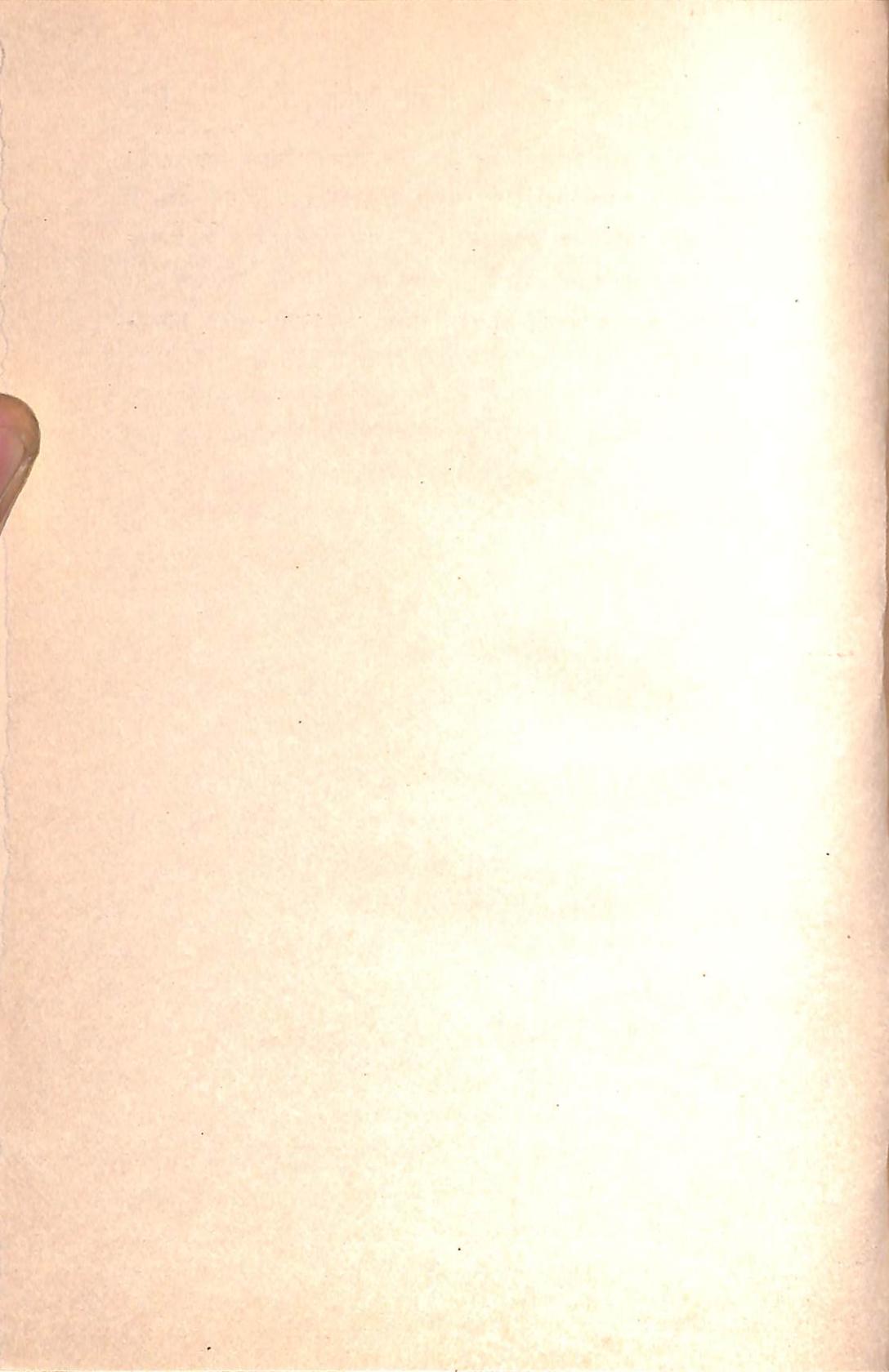
### सर्वज्ञता का पारम्पर्य-भेद

जैन-परम्परा में सर्वज्ञता के बारे में प्रायः एक मत रहा है । कहीं-कहीं मत-भेद भी मिलता है । आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में बताया है—“केवली व्यवहार-दृष्टि से सब कुछ जानते देखते हैं और निश्चय-दृष्टि से अपनी आत्मा को ही देखते हैं ८२” किन्तु सर्वज्ञता का यह विचार जैन-दृष्टि को पूर्णाश्रय मान्य नहीं है । सर्वज्ञता का अर्थ है—लोक-अलोकवर्ती सब द्रव्य और सब पर्यायों का साक्षात्कार ।

यह जीव इस कर्म को आभ्युपगमिकी वेदना ( इच्छा-स्वीकृत प्रयत्नों ) द्वारा भोगेगा और यह जीव इस कर्म को औपक्रमिकी वेदना ( कर्मोदय-कृत वेदना ) द्वारा भोगेगा, प्रदेश-वेद्य या विपाक-वेद्य के रूप में जैसा कर्म बन्धा है वैसे भोगेगा, जिस देश-काल आदि में जिस प्रकार, जिस निमित्त से, जिन कर्मों के फल भोगने हैं—यह सब अर्हत को ज्ञात होता है । भगवान् ने जो कर्म जैसे-जैसे देखा है; वह वैसे-वैसे ही परिणत होगा ८३ । हमारी क्रियाएं विशिष्ट ज्ञान की निश्चितता से मुक्त नहीं हैं, फिर भी ज्ञान आलोक है । सूर्य का आलोक जैसे प्रतिबन्धक नहीं होता, वैसे ही ज्ञान भी क्रिया का प्रतिबन्धक नहीं होता ।

केवली पूर्व दिशा में मित ( परिणामवाली वस्तु ) को भी जानता है, और अमित ( परिणाम-रहित वस्तु ) को भी जानता है । इसी प्रकार दक्षिण,

पश्चिम और उत्तर दिशा में वह मित और अमित दोनों को जानता है । केवली सत्रको जानता-देखता है, सर्वतः जानता-देखता है, सर्व काल में सर्व भावों ( पर्यायों या अवस्थाओं ) को जानता-देखता है । वह अनन्त-ज्ञानी और अनन्त-दर्शनी होता है । उसका ज्ञान और दर्शन निरावरण होता है, इसलिए वह सब पदार्थों को सदा, सर्वतः, सर्व-पर्यायों सहित जानता-देखता है ।



मनो विज्ञान

मनोविज्ञान का आधार

त्रिपुटी का स्वरूप

कर्म

नो-कर्म

चेतना का स्वरूप और विभाग

शरीर और चेतना का सम्बन्ध

शरीर की बनावट और चेतना

मन क्या है ?

शरीर और मन का पारस्परिक भाव

इन्द्रिय और मन का ज्ञान-क्रम

अविच्युति

वासना

स्मृति

इन्द्रिय और मन की सापेक्ष-निरपेक्ष

वृत्ति

मन इन्द्रिय है या नहीं ?

मानसिक अवग्रह

मन की व्यापकता

विकास का तरतम भाव

इन्द्रिय और मन का विभागक्रम तथा

प्राप्तिक्रम

उपयोग

संज्ञाएँ

आहार-संज्ञा

भय-संज्ञा

भैथुन-संज्ञा

परिग्रह-संज्ञा  
ओघ-संज्ञा  
कषाय  
नो कषाय  
उपयोग के दो प्रकार  
अव्यक्त और व्यक्त चेतना  
मानसिक विकास  
बुद्धि का तरतम भाव  
मानसिक योग्यता के तत्त्व  
चेतना की विभिन्न प्रवृत्तियाँ  
स्वप्न-विज्ञान  
भावना  
श्रद्धधान  
लेश्या  
ध्यान

## मनोविज्ञान का आधार

जैन मनोविज्ञान आत्मा, कर्म और नो-कर्म की त्रिपुटी-मूलक है। मन की व्याख्या और प्रवृत्तियों पर विचार करने से पूर्व इस त्रिपुटी पर संक्षिप्त विचार करना होगा। कारण, जैन-दृष्टि के अनुसार मन स्वतन्त्र पदार्थ या गुण नहीं, वह आत्मा का ही एक विशेष गुण है। मन की प्रवृत्ति भी स्वतन्त्र नहीं, वह कर्म और नो कर्म की स्थिति-सापेक्ष है। इसलिए इनका स्वरूप समझे बिना मन का स्वरूप नहीं समझा जा सकता।

### त्रिपुटी का स्वरूप [ आत्मा ]

चैतन्य-लक्षण, चैतन्य-स्वरूप या चैतन्य-गुण पदार्थ का नाम आत्मा है <sup>१</sup>। ऐसी आत्माएं अनन्त हैं <sup>२</sup>। उनकी सत्ता स्वतन्त्र है <sup>३</sup>। वे किसी दूसरी आत्मा या परमात्मा के अंश नहीं हैं। प्रत्येक आत्मा की चेतना अनन्त होती है—अनन्त प्रमेयों को जानने में क्षम होती है <sup>४</sup>। चैतन्य-स्वरूप की दृष्टि से सब आत्माएं समान होती हैं, किन्तु चेतना का विकास सब में समान नहीं होता <sup>५</sup>। चैतन्य-विकास के तारतम्य का निमित्त कर्म है <sup>६</sup>।

### कर्म

आत्मा की प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट और उसके साथ एक-रसीभूत पुद्गल 'कर्म' कहलाते हैं <sup>७</sup>। कर्म आत्मा के निमित्त से होने वाला पुद्गल-परिणाम है। भोजन, औषध, विष और मद्य आदि पौद्गलिक पदार्थ परिपाक-दशा में प्राणियों पर प्रभाव डालते हैं, वैसे ही कर्म भी परिपाक-दशा में प्राणियों को प्रभावित करते हैं <sup>८</sup>। भोजन आदि का परमाणु-प्रचय स्थूल होता है, इसलिए उनकी शक्ति स्वरूप होती है। कर्म का परमाणु-प्रचय सूक्ष्म होता है, इसलिए इनकी सामर्थ्य अधिक होती है। भोजन आदि के ग्रहण की प्रवृत्ति स्थूल होती है, इसलिए उसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। कर्म-ग्रहण की प्रवृत्ति सूक्ष्म होती है, इसलिए इसका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। भोजन आदि के परिणामों को जानने के लिए शरीर-शास्त्र है, कर्म के परिणामों को समझने के लिए कर्म-शास्त्र। भोजन आदि का प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर पर होता है और परोक्ष प्रभाव आत्मा पर। कर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव आत्मा पर होता है और परोक्ष प्रभाव शरीर पर।

पथ्य भोजन से शरीर का उपचय होता है, अपथ्य भोजन से अपचय । दोनों प्रकार का भोजन न होने से मृत्यु । ऐसे ही पुण्य-कर्म से आत्मा को सुख, पाप-कर्म से दुःख और दोनों के विलय से मुक्ति होती है । कर्म के आंशिक विलय से आंशिक मुक्ति—आंशिक विकास होता है और पूर्ण-विलय से पूर्ण मुक्ति—पूर्ण विकास । भोजन आदि का परिपाक जैसे देश, काल-सापेक्ष होता है, वैसे ही कर्म का विपाक नो कर्म सापेक्ष होता है १।

### नो कर्म

कर्म-विपाक की सहायक सामग्री को नो कर्म कहा जाता है १०। आज की भाषा में कर्म को आन्तरिक परिस्थिति या आन्तरिक वातावरण कहें तो इसे बाहरी वातावरण या बाहरी परिस्थिति कह सकते हैं । कर्म प्राणियों को फल देने में क्षम है किन्तु उसकी क्षमता के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अवस्था, भव-जन्म, पुद्गल, पुद्गल-परिणाम आदि-आदि बाहरी स्थितियों की अपेक्षाएं जुड़ी रहती हैं ११।

कर्म के आंशिक विलय से होने वाले आंशिक विकास का उपयोग भी बाह्य स्थिति-सापेक्ष होता है ।

चेतना का पूर्ण विकास होने और शरीर से मुक्ति मिलने के बाद आत्मा को बाह्य स्थितियों की कोई अपेक्षा नहीं होती ।

### चेतना का स्वरूप और विभाग

आत्मा सूर्य की तरह प्रकाश-स्वभाव होती है । उसके प्रकाश-चेतना के दो रूप बनते हैं—आवृत्त और अनावृत्त । अनावृत्त-चेतना अखण्ड, एक विभाग-शून्य और निरपेक्ष होती है १२। कर्म से आवृत्त चेतना के अनेक विभाग बन जाते हैं । उनका आधार ज्ञानावरण कर्म के उदय और विलय का तारतम्य होता है । वह अनन्त प्रकार का होता है, इसलिए चेतना के भी अनन्त रूप बन जाते हैं किन्तु उसके वर्गीकृत रूप चार हैं :—

( १ ) मति ( २ ) श्रुत ( ३ ) अवधि ( ४ ) मनःपर्याय ।

मति... इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान—वार्तमानिक ज्ञान ।

श्रुत... शास्त्र और परोपदेश-शब्द के माध्यम से होने वाला त्रैकालिक

मानस ज्ञान ।

अवधि\*\*\*इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्म-शक्ति से होने वाला ज्ञान ।

मनः पर्याय\*\*\*परचित्त-ज्ञान ।

इनमें पहले दो ज्ञान परोक्ष हैं और अन्तिम दो प्रत्यक्ष । ज्ञान स्वरूपतः प्रत्यक्ष ही होता है । बाह्यार्थ ग्रहण के समय वह प्रत्यक्ष और परोक्ष—इन दो धाराओं में बंट जाता है ।

ज्ञाता ज्ञेय को किसी माध्यम के बिना जाने तब उसका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और माध्यम के द्वारा जाने तब परोक्ष ।

आत्मा प्रकाश-स्वभाव है, इसलिए उसे अर्थ-बोध में माध्यम की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए । किन्तु चेतना का आवरण बलवान होता है, तब वह हुए बिना नहीं रहती । मति-ज्ञान पौद्गलिक इन्द्रिय और पौद्गलिक मन के माध्यम से होता है । श्रुत-ज्ञान शब्द और संकेत के माध्यम से होता है, इसलिए ये दोनों परोक्ष हैं ।

अवधि-ज्ञान इन्द्रिय और मन का सहारा लिए बिना ही पौद्गलिक पदार्थों को जान लेता है । आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान में सामीप्य और दूरी, भीत आदि का आवरण, तिमिर और कुहासा—ये बाधक नहीं बनते ।

मनः पर्याय ज्ञान दूसरों की मानसिक आकृतियों को जानता है १३। समनस्क प्राणी जो चिन्तन करते हैं, उसकी चिन्तन के अनुरूप आकृतियां बनती हैं १४। इन्द्रिय और मन उन्हें साक्षात् नहीं जान सकते । इन्हें चेतोवृत्ति का ज्ञान सिर्फ आनुमानिक होता है १५। परोक्ष ज्ञानी शरीर की स्थूल चेष्टाओं को देख कर अन्तरवर्ती मानस प्रवृत्तियों को समझने का यत्न करता है । मनः पर्यवज्ञानी उन्हें साक्षात् जान जाता है १६।

मनः पर्यवज्ञानी को इस प्रयत्न में अनुमान करने के लिए मन का सहारा लेना पड़ता है । वह मानसिक आकृतियों का साक्षात्कार करता है । किन्तु मानसिक विचारों का साक्षात्कार नहीं करता । इसका कारण यह है—पदार्थ दो प्रकार के होते हैं :—मूर्त और अमूर्त १७। पुद्गल मूर्त हैं और आत्मा अमूर्त १८। अनावृत चेतना को इन दोनों का साक्षात्कार होता है । आवृत चेतना सिर्फ मूर्त पदार्थों का ही साक्षात्कार कर सकती है । मनः पर्याय

ज्ञान आवृत्त चेतना का एक विभाग है, इसलिए वह आत्मा की अमूर्त मानसिक परिणति को साक्षात् नहीं जान सकता। वह इस (आत्मिक-मन) के निमित्त से होने वाली मूर्त मानसिक परिणति (पौद्गलिक मन की परिणति) को साक्षात् जानता है और मानसिक विचारों को उसके द्वारा अनुमान से जानता है<sup>१९</sup>। मानसिक विचार और उनकी आकृतियों के अविनाभाव से यह ज्ञान पूरा बनता है। इसमें मानसिक विचार अनुमेय होते हैं। फिर भी यह ज्ञान परोक्ष नहीं है। कारण कि मानसिक विचारों को साक्षात् जानना मनः पर्याय ज्ञान का विषय नहीं। उसका विषय है मानसिक आकृतियों को साक्षात् जानना। उन्हें जानने के लिए इसे दूसरे पर निर्भर नहीं होना पड़ता। इसलिए यह आत्म-प्रत्यक्ष ही है। मनः पर्याय ज्ञान जैसे मानसिक पर्यायों—श्रेय-विषयक अध्यवसायों को अनुमान से जानता है, वैसे ही मन द्वारा चिन्तनीय विषय को भी अनुमान से जानता है<sup>२०</sup>।

### शरीर और चेतना का सम्बन्ध

शरीर और चेतना दोनों भिन्न धर्मक हैं। फिर भी इनका अनादि—प्रवाही सम्बन्ध है। चेतन और अचेतन चैतन्य की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिए वे सर्वथा एक नहीं हो सकते। किन्तु सामान्य गुण की दृष्टि से वे अभिन्न भी हैं। इसलिए उनमें सम्बन्ध हो सकता है। चेतन शरीर का निर्माता है। शरीर उसका अधिष्ठान है। इसलिए दोनों पर एक दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। शरीर की रचना चेतन-विकास के आधार पर होती है। जिस जीव के जितने इन्द्रिय और मन विकसित होते हैं, उसके उतने ही इन्द्रिय और मन के ज्ञान-तन्तु बनते हैं। वे ज्ञान-तन्तु ही इन्द्रिय और मानस ज्ञान के साधन होते हैं। जब तक ये स्वस्थ रहते हैं, तब तक इन्द्रियां स्वस्थ रहती हैं। इन ज्ञान-तन्तुओं को शरीर से निकाल लिया जाए तो इन्द्रियों में जानने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती<sup>२१</sup>।

### शरीर की बनावट और चेतना का विकास

चेतना-विकास के अनुरूप शरीर की रचना होती है और शरीर-रचना के अनुरूप चेतना की प्रवृत्ति होती है। शरीर-निर्माण-काल में आत्मा उसका

निमित्त बनती है और ज्ञान-काल में शरीर के ज्ञान-तन्तु चेतना के सहायक बनते हैं ।

पृथ्वी यावत् बनस्पति का शरीर अस्थि, मांस रहित होता है । विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय का शरीर अस्थि, मांस, शोणित-बद्ध होता है ।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य का शरीर अस्थि, मांस, शोणित, स्नायु, शिरा-बद्ध होता है २२ ।

आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं होती, इसलिए आत्मा की परिणति का शरीर पर और शरीर की परिणति का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है । देह-मुक्त होने के बाद आत्मा पर उसका कोई असर नहीं होता किन्तु दैहिक स्थितियों से जकड़ी हुई आत्मा के कार्य-कलाप में शरीर सहायक व बाधक बनता है ।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के लिए जैसे दैहिक इन्द्रियों की अपेक्षा होती है, वैसे ही पूर्व-प्रत्यक्ष की स्मृति के लिए दैहिक ज्ञानतन्तु-केन्द्रों—मस्तिष्क या अन्य अवयवों की अपेक्षा रहती है ।

शरीर की वृद्धि के साथ ज्ञान की वृद्धि होती है, तब फिर शरीर से आत्मा भिन्न कैसे ? यह सहज शंका उठती है किन्तु यह नियम पूर्ण व्याप्त नहीं है । बहुत सारे व्यक्तियों के देह का पूर्ण विकास होने पर भी बुद्धि का पूर्ण विकास नहीं होता और कई व्यक्तियों के देह के अपूर्ण विकास में भी बुद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है । देह की अपूर्णता में बौद्धिक विकास पूर्ण नहीं होता, इसका कारण यह है कि वस्तु-विषय का ग्रहण शरीर की सहायता से होता है । जब तक देह पूर्ण विकसित नहीं होता, तब तक वस्तु-विषय का ग्रहण करने में पूर्ण समर्थ नहीं बनता । मस्तिष्क और इन्द्रियों की न्यूनाधिकता होने पर भी ज्ञान की मात्रा में न्यूनाधिकता होती है, उसका भी यही कारण है—सहकारी अवयवों के बिना ज्ञान का उपयोग नहीं हो सकता । देह, मस्तिष्क और इन्द्रियों के साथ ज्ञान का निमित्त कारण और कार्य भाव सम्बन्ध है । इसका फलित यह नहीं होता कि आत्मा और वे एक हैं ।

मन क्या है ?

समतात्मक भौतिकवाद के अनुसार मानसिक क्रियाएं स्वभाव से ही भौतिक हैं ।

कारणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का कार्य है ।

गुणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का गुण है ।

जैन-दृष्टि के अनुसार मन दो प्रकार के होते हैं—एक चेतन और दूसरा पौद्गलिक ।

पौद्गलिक मन ज्ञानात्मक मन का सहयोगी होता है । उसके बिना ज्ञानात्मक मन अपना कार्य नहीं कर सकता, उसमें अकेले में ज्ञान-शक्ति नहीं होती । दोनों के योग से मानसिक क्रियाएं होती हैं ।

ज्ञानात्मक मन चेतन है । वह पौद्गलिक परमाणुओं से नहीं बन सकता । वह पौद्गलिक वस्तु का रस नहीं है । पौद्गलिक वस्तु का रस भी पौद्गलिक ही होगा । पित्त का निर्माण यकृत में होता है, यह पौद्गलिक है । चेतना न मस्तिष्क का रस है और न मस्तिष्क की आनुषङ्गिक उपज भी । यह कार्यक्षम और शरीर का नियामक है । आनुषङ्गिक उपज में यह सामर्थ्य नहीं होती ।

चेतना शरीर-घटक धातुओं का गुण होता तो शरीर से वह कभी लुप्त नहीं होती । चेतना आत्मा का गुण है । आत्म-शून्य-शरीर में चेतना नहीं होती और शरीर-शून्य आत्मा की चेतना हमें प्रत्यक्ष नहीं होती । हमें शरीर-युक्त आत्मा की चेतना का ही बोध होता है ।

वस्तु का स्वगुण कभी भी वस्तु से पृथक् नहीं होता । दो वस्तुओं के संयोग से तीसरी नई वस्तु बनती है, तब उसका गुण भी दोनों के सम्मिश्रण से बनता है, किन्तु बाहर से नहीं आता । उसका विघटन होने पर पुनः दोनों वस्तुओं के अपने-अपने गुण स्वतन्त्र हो जाते हैं । गन्धक के तेजाव में हाँड्रोजन, ( Hydrogen ) गन्धक और ऑक्सीजन ( Oxygen ) का सम्मिश्रण रहता है । इसके भी अपने विशेष गुण होते हैं । इसको बनाने वाली मूल धातुएँ पृथक्-पृथक् कर दी जाएँ, तब वे अपने मूल गुणों के साथ ही पायी जाती हैं ।

आत्मा का गुण चैतन्य और जड़ का गुण अचैतन्य है । ये भी इनके साथ

सदा लगे रहते हैं। इन दोनों के संयोग से नए गुण पैदा होते हैं, जिन्हें जैन परिभाषा में 'वैभाविक-गुण' कहा जाता है। ये गुण मुख्य रूप में चार हैं :—

( १ ) आहार ( २ ) श्वास-उच्छ्वास ( ३ ) भाषा और ( ४ ) पौद्गलिक मन । ये गुण न तो आत्मा के हैं और न शरीर के । ये दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होते हैं । दोनों के वियोग में ये भी मिट जाते हैं ।

### शरीर और मन का पारस्परिक प्रभाव

शरीर पर मन का और मन पर शरीर का असर कैसे होता है ? अब इस पर हमें विचार करना है । आत्मा अरूपी है, उसको हम देख नहीं सकते । शरीर में आत्मा की क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है । उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं कि आत्मा विद्युत् है और शरीर बल्ब ( लट्टू ) है । ज्ञान-शक्ति आत्मा का गुण है और उसके साधन शरीर के अवयव हैं । बोलने का प्रयत्न आत्मा का है, उसका साधन शरीर है । इसी प्रकार पुद्गल ग्रहण एवं हलन-चलन आत्मा करती है और उसका साधन शरीर है । आत्मा के बिना चिन्तन, जल्प और बुद्धिपूर्वक गति-आगति नहीं होती तथा शरीर के बिना उनका प्रकाश ( अभिव्यक्ति ) नहीं होता । इसीलिए कहा गया है कि "द्रव्यनिमित्तं हि संसारिणां वीर्यमुपजायते"—अर्थात् संसारी-आत्माओं की शक्ति का प्रयोग पुद्गलों की सहायता से होता है । हमारा मानस चिन्तन में प्रवृत्त होता है और उसे पौद्गलिक मन के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण करना ही पड़ता है, अन्यथा उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । हमारे चिन्तन में जिस प्रकार के इष्ट या अनिष्ट भाव आते हैं, उसी प्रकार के इष्ट या अनिष्ट पुद्गलों को द्रव्य-मन [ पौद्गलिक मन ] ग्रहण करता चला जाता है । मन-रूप में परिणत हुए अनिष्ट-पुद्गलों से शरीर की हानि होती है और मन रूप में परिणत इष्ट पुद्गलों से शरीर को लाभ पहुँचता है २३। इस प्रकार शरीर पर मन का असर होता है । यद्यपि शरीर पर असर उसके सजातीय पुद्गलों के द्वारा ही होता है, तथापि उन पुद्गलों का ग्रहण मानसिक प्रवृत्ति पर निर्भर है । इसलिए इस प्रक्रिया को हम शरीर पर मानसिक असर कह सकते हैं । देखने की शक्ति ज्ञान है । ज्ञान आत्मा का गुण है । फिर भी आँख के

बिना मनुष्य देख नहीं सकता । आंख में रोग होता है, दर्शन-क्रिया नष्ट हो जाती है । रोग की चिकित्सा की और देखने लग जाता है । यही बात मस्तिष्क और मन की क्रिया के बारे में है । इस प्रकार आत्मा पर शरीर का असर होता है ।

### इन्द्रिय और मन का ज्ञानक्रम

मति ज्ञान और श्रुत-ज्ञान—दोनों के साधन हैं—इन्द्रिय और मन । फिर भी दोनों एक नहीं है । मति द्वारा इन्द्रिय और मन की सहायता मात्र से अर्थ का ज्ञान हो जाता है । श्रुत को शब्द या संकेत की और अपेक्षा होती है । जहाँ हम घट को देखने मात्र से जान लेते हैं, वह मति है और जहाँ घट शब्द के द्वारा घट को जानते हैं, वह श्रुत है २४। मति ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ के बीच इन्द्रिय और मन का व्यवधान होता है, इसलिए वह परोक्ष है किन्तु उस ( श्रुत ज्ञान ) में इन्द्रिय मन और ज्ञेय वस्तु के बीच कोई व्यवधान नहीं होता, इसलिए उसे लौकिक प्रत्यक्ष भी कहा जाता है २५। श्रुत ज्ञान में इन्द्रिय, मन और ज्ञेय वस्तु के बीच शब्द का व्यवधान होता है, इसलिए वह सर्वतः परोक्ष ही होता है ।

लौकिक प्रत्यक्ष आत्म-प्रत्यक्ष की भाँति समर्थ प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए इसमें क्रमिक ज्ञान होता है । वस्तु के सामान्य दर्शन से लेकर उसकी धारणा तक का क्रम इस प्रकार है :—

ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु का उचित सन्निधान.....व्यञ्जन ।

वस्तु के सर्व सामान्य रूप का बोध.....दर्शन ।

वस्तु के व्यक्तिनिष्ठ सामान्य रूप का बोध.....अवग्रह ।

वस्तु-स्वरूप के बारे में अनिर्णायक विकल्प.....संशय ।

वस्तु स्वरूप का परामर्श-वस्तु में प्राप्त और } .....ईहा,  
अप्राप्त धर्मों का पर्यालोचन । } ( निर्णय की चेष्टा )

वस्तु-स्वरूप का निर्णय.....अवाय ( निर्णय )

वस्तु-स्वरूप का स्थिर-अवगति या स्थिरीकरण...धारणा

( निर्णय की धारा )

यह क्रम अमनस्क दशा में अपूर्ण हो सकता है किन्तु इसका विपर्यास नहीं हो सकता। अवग्रह हो जाता है, ध्यान बदलने पर 'ईहा' नहीं भी होती। किन्तु ईहा से पहले अवग्रह का यानी वस्तु के विशेष-स्वरूप के परामर्श से पहले उसके सामान्य रूप का ग्रहण होना अनिवार्य है। यह नियम धारणा तक समान है।

इस क्रम में व्यञ्जन अचेतन होता है, दर्शन विशेष-स्वरूप का अनिर्णायक, और संशय अयथार्थ। निर्णायक ज्ञान की भूमिकाएं चार हैं :—

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

वस्तुवृत्त्या निर्णय की भूमि 'अवाय' है। अवग्रह और ईहा निर्णयोन्मुख या स्वरूपांश के निर्णायक होते हैं। धारणा निर्णय का स्थिर रूप है। इसलिए वह भी निर्णायक होती है। धारणा के तीन प्रकार हैं :— (१) अविच्युति (२) वासना (३) स्मृति।

### अविच्युति

निर्णीत विषय में ज्ञान की प्रवृत्ति निरन्तर चलती रहे, उपयोग की धारा न टूटे, उस धारणा का नाम 'अविच्युति' है। इस अविच्युति की अपेक्षा ही धारणा लौकिक प्रत्यक्ष है। इसके उत्तरवर्ती दो प्रकार प्रत्यक्ष नहीं हैं।

### वासना

निर्णय में वर्तमान ज्ञान की प्रवृत्ति-उपयोग का सातत्य छूटने पर प्रस्तुत ज्ञान का व्यक्त रूप चला जाता है। उसका अव्यक्तरूप संस्कार रह जाता है और यही पूर्व-ज्ञान की स्मृति का कारण बनता है। इस संस्कार-ज्ञान का नाम है 'वासना'।

### स्मृति

संस्कार उद्बुद्ध होने पर अनुभूत अर्थ का पुनर्बोध होता है। वह 'स्मृति' है।

वासना व्यक्त ज्ञान नहीं, इसलिए वह प्रमाण की कोटि में नहीं आती। स्मृति परोक्ष प्रमाण है। धारणा तक मति लौकिक प्रत्यक्ष होती है। स्मृति से लेकर अनुमान तक उसका रूप परोक्ष बन जाता है।

अनुमान और मत्तत्त्वा ज्ञान-क्रम पट्ट होता है। इसलिए उनका व्यञ्जन नहीं

होता—ज्ञेय वस्तु से सन्निकर्ष नहीं होता। जिन इन्द्रियों का व्यञ्जन होता है, उन्हें व्यञ्जन का अस्पष्ट बोध होता है। अपने और ज्ञेय वस्तु के संश्लेष का अव्यक्त ज्ञान होता है, इसे 'व्यञ्जन-अवग्रह' कहा जाता है। यह अपटु ज्ञान-क्रम है। इससे ज्ञेय अर्थ का बोध नहीं होता। वह इसके उत्तरवर्ती अवग्रह से होता है, इसलिए उसका नाम 'अर्थ-अवग्रह' है।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये पांच इन्द्रिय और मन—इन छहों के होते हैं।

स्पर्शन.....अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
रसन.....,	”	”	”
घ्राण.....,	”	”	”
चक्षु.....,	”	”	”
श्रोत्र.....,	”	”	”
मनस्.....,	”	”	”

### इन्द्रिय और मन की सापेक्ष-निरपेक्ष वृत्ति

इन्द्रिय प्रतिनियत अर्थग्राही है <sup>२६</sup>। पांच इन्द्रियों—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र—के पांच विषय हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द <sup>२७</sup>। मन सर्वार्थग्राही है <sup>२८</sup>। वह इन पांचों अर्थों को जानता है। इसके सिवाय मन का मुख्य विषय श्रुत है <sup>२९</sup>। 'पुस्तक' शब्द सुनते ही या पढ़ते ही मन को 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान हो जाता है। मन को शब्द-संस्पृष्ट वस्तु की उपलब्धि होती है। इन्द्रिय को पुस्तक देखने पर 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान होता है और 'पुस्तक' शब्द सुनने पर उस शब्द मात्र का ज्ञान होता है। किन्तु 'पुस्तक' शब्द का यह पुस्तक वाच्यार्थ है—यह ज्ञान इन्द्रिय को नहीं होता। इन्द्रियों में मात्र विषय की उपलब्धि—अवग्रहण की शक्ति होती है, ईहा—गुण दोष विचारणा, परीक्षा या तर्क की शक्ति नहीं होती <sup>३०</sup>। मन में ईहापोह शक्ति होती है <sup>३१</sup>। इन्द्रिय मति और श्रुत—दोनों में वार्तमानिक बोध करती है, पार्श्ववर्ती विषय को जानती है। मन मति-ज्ञान में भी ईहा के अन्वय-व्यतिरेकी धर्मों का परामर्श करते समय त्रैकालिक बन जाता है और श्रुत में त्रैकालिक होता ही है <sup>३२</sup>।

मन इन्द्रिय है या नहीं ?

नैय्यायिक मन को इन्द्रिय से पृथक् मानते हैं <sup>३३</sup>। सांख्य मन का इन्द्रिय में अन्तर्भाव करते हैं <sup>३४</sup>। जैन मन को अन-इन्द्रिय मानते हैं। इसका अर्थ है मन इन्द्रिय की तरह प्रतिनियत अर्थ को जानने वाला नहीं है, इसलिए वह इन्द्रिय नहीं और वह इन्द्रिय के विषयों को उन्हीं के माध्यम से जानता है, इसलिए वह कथंचित् इन्द्रिय नहीं यह भी नहीं। वह शक्ति की अपेक्षा इन्द्रिय नहीं भी है और इन्द्रिय-सापेक्षता की दृष्टि से इन्द्रिय है भी।

मानसिक-अवग्रह

इन्द्रियां जैसे मति ज्ञान की निमित्त हैं, वैसे श्रुत-ज्ञान की भी। मन की भी यही बात है। वह भी दोनों का निमित्त है। किन्तु श्रुत—शब्द द्वारा ग्राह्य वस्तु, केवल मन का ही विषय है, इन्द्रियों का नहीं <sup>३५</sup>। शब्द-संस्पर्श के बिना प्रत्यक्ष वस्तु का ग्रहण इन्द्रिय और मन दोनों के द्वारा होता है। स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दात्मक वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है, उनकी विशेष अवस्थाओं और बुद्धि जन्य काल्पनिक वृत्तों का तथा पदार्थ के उपयोग का ज्ञान मन के द्वारा होता है। इस प्राथमिक ग्रहण—अवग्रह में सामान्य रूप से वस्तु-पर्यायों का ज्ञान होता है। इसमें आगे पीछे का अनुसंधान, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, विशेष विकल्प आदि नहीं होते। इन्द्रियां इन विशेष पर्यायों को नहीं जान सकतीं। इसलिए मानसिक अवग्रह में वे संयुक्त नहीं होतीं, जैसे ऐन्द्रियिक अवग्रह में मन संयुक्त होता है। अवग्रह के उत्तरवर्ती ज्ञान क्रम पर तो मन का एकाधिकार है ही।

मन की व्यापकता

[ क ] विषय की दृष्टि से :—

इन्द्रियों के विषय केवल प्रत्यक्ष पदार्थ बनते हैं। मन का विषय प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के पदार्थ बनते हैं। शब्द, परोपदेश या आगम-ग्रन्थ के माध्यम से अस्पृष्ट, अरसित, अघ्रात, अदृष्ट, अश्रुत, अननुभूत, मूर्त्त और अमूर्त्त सब पदार्थ जाने जाते हैं। यह श्रुत-ज्ञान है। श्रुत-ज्ञान केवल मानसिक होता है। कहना यह चाहिए कि मन का विषय सब पदार्थ हैं किन्तु यह नहीं कहा जाता, उसका भी एक अर्थ है। सब पदार्थ मन के ज्ञेय बनते हैं, किन्तु

प्रत्यक्ष रूप से नहीं श्रुत के माध्यम से बनते हैं, इसलिए मन का विषय श्रुत है ३६।

श्रुतमनोविज्ञान इन्द्रिय-निमित्तक भी होता है और मनोनिमित्तक भी। इन्द्रिय के द्वारा शब्द का ग्रहण होता है, इसलिए इन्द्रियां उसका निमित्त बनती हैं। मन के द्वारा सामान्य पर्यालोचन होता है, इसलिए वह भी उसका निमित्त बनता है। श्रुत-मनोविज्ञान विशेष पर्यालोचनात्मक होता है—यह उन दोनों का कार्य है।

[ ख ] काल की दृष्टि से :—

इन्द्रियां सिर्फ वर्तमान अर्थ को जानती हैं। मन त्रैकालिक ज्ञान है। स्वरूप की दृष्टि से मन वर्तमान ही होता है। मन मन्यमान होता है—मनन के समय ही मन होता है ३७। मनन से पहले और पीछे मन नहीं होता। वस्तु-ज्ञान की दृष्टि से वह त्रैकालिक होता है। उसका मनन वार्तमानिक होता है, स्मरण अतीतकालिक, संज्ञा उभयकालिक, कल्पना भविष्यकालिक, चिन्ता—अभिनिबोध और शब्द-ज्ञान त्रैकालिक।

### विकास का तरतमभाव

प्राणीमात्र में चेतना समान होती है, उसका विकास समान नहीं होता। ज्ञानावरण मन्द होता है, चेतना अधिक विकसित होती है। वह तीव्र होता है, चेतना का विकास स्वल्प होता है। अनावरण दशा में चेतना पूर्ण विकसित रहती है। ज्ञानावरण के उदय से चेतना का विकास ढक जाता है किन्तु वह पूर्णतया आवृत्त कभी नहीं होती। उसका अल्पांश सदा अनावृत्त रहता है। यदि वह पूरी आवृत्त हो जाए तो फिर जीव और अजीव के विभाग का कोई आधार ही नहीं रहता ३८। बादल कितने गहरे ही क्यों न हों, सूर्य की प्रभा रहती है। उसका अल्पांश दिन और रात के विभाग का निमित्त बनता है ३९। चेतना का न्यूनतम विकास एकेन्द्रिय जीवों में होता है ४०। उनमें सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान होता है। स्थानर्द्धि-निद्रा—गाढ़तम नींद जैसी दशा उनमें हमेशा रहती है, इससे उनका ज्ञान अव्यक्त होता है ४१। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय-सम्मूर्च्छिम और पञ्चेन्द्रिय गर्भज में क्रमशः ज्ञान की मात्रा बढ़ती है ४२।

- द्वीन्द्रिय.....स्पर्शन और रसन  
 त्रीन्द्रिय.....स्पर्शन, रसन और घ्राण  
 चतुरिन्द्रिय.....स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु ।  
 पञ्चेन्द्रिय सम्मूर्च्छिम.....स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ।  
 पञ्चेन्द्रिय गर्भज.....स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन-  
 अतीन्द्रिय ज्ञान-अवधि-मूर्त्त पदार्थ का साक्षात्  
 ज्ञान ।  
 पञ्चेन्द्रिय गर्भज मनुष्य...पूर्व के अतिरिक्त परचित्त-ज्ञान और केवल ज्ञान-  
 चेतना की अनावृत्त-दशा ।

ज्ञानावरण का पूर्ण विलय [ क्षय ] होने पर चेतना निरूपाधिक हो जाती है । उसका आंशिक विलय ( क्षयोपशम ) होता है, तब उसमें अनन्त गुण तरतमभाव रहता है । उसके वर्गीकृत चार भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय । इनमें भी अनन्तगुण तारतम्य होता है । एक व्यक्ति के मति-ज्ञान से दूसरे व्यक्ति का मति-ज्ञान अनन्तगुण हीन या अधिक हो जाता है ४३। यही स्थिति शेष तीनों की है ।

निरूपाधिक चेतना की प्रवृत्ति—उपयोग, सब विषयों पर निरन्तर होता रहता है । सोपाधिक चेतना ( आंशिक विलय से विकसित चेतना ) की प्रवृत्ति—उपयोग निरन्तर नहीं रहता । जिस विषय पर जब ध्यान होता है—चेतना की विशेष प्रवृत्ति होती है, तभी उसका ज्ञान होता है । प्रवृत्ति छूटते ही उस विषय का ज्ञान छूट जाता है । निरूपाधिक चेतना की प्रवृत्ति सामग्री-निरपेक्ष होती है, इसलिए वह स्वतः प्रवृत्त होती है, उसकी विशेष प्रवृत्ति करनी नहीं पड़ती । सोपाधिक चेतना सामग्री-सापेक्ष होती है, इसलिए वह सब विषयों को निरन्तर नहीं जानती, जिस पर विशेष प्रवृत्ति करती है, उसीको जानती है ४४।

सोपाधिक चेतना के दो रूप—( १ ) मूर्त्त-पदार्थ-ज्ञान ( अवधि ) ( २ ) पर-चित्त-ज्ञान [ मनः पर्याय ] विशद होते हैं और बाह्य सामग्री-निरपेक्ष होते हैं । इसलिए ये अव्यक्त नहीं होते, क्रमिक नहीं होते और संशय-विपर्यय-दोष-मुक्त होते हैं । ऐन्द्रियिक और मानसज्ञान ( मति और श्रुत ) बाह्य-सामग्री-

सापेक्ष होते हैं, इसलिए वे अव्यक्त, क्रमिक और संशय-विपर्यय-दोषयुक्त भी होते हैं ४५। इसका मुख्य कारण ज्ञानावरण का तीव्र सद्भाव ही है। ज्ञानावरण कर्म आत्मा पर छाया हुआ रहता है। चेतना का सीमित विकास—जानने की आंशिक योग्यता [ क्षायौपशमिक-भाव ] होने पर भी जब तक आत्मा का व्यापार नहीं होता, तब तक ज्ञानावरण उस पर पर्दा डाले रहता है। पुरुषार्थ चलता है, पर्दा दूर हो जाता है। पदार्थों की जानकारी मिलती है। पुरुषार्थ निवृत्त होता है, ज्ञानावरण फिर छा जाता है। उदाहरण के लिए समझिए—जानी पर शैवाल बिछा हुआ है। कोई उसे दूर हटाता है, पानी प्रगट हो जाता है, उसे दूर करने का प्रयत्न बन्द होता है, तब वह फिर पानी पर छा जाता है ४६। ज्ञानावरण का भी यही क्रम है।

( १ ) आत्मा चैतन्यमय है, इसलिए उसमें विस्मृति नहीं होनी चाहिए, फिर विस्मृति क्यों ?

( २ ) ज्ञान का स्वभाव है ज्ञेय को जानना, फिर अव्यक्त बोध क्यों ?

( ३ ) ज्ञान का स्वभाव है, पदार्थ का निश्चय करना, फिर संशय, भ्रम आदि क्यों ?

( ४ ) ज्ञान असीम है, इसलिए उससे अपरिमित पदार्थों का ग्रहण होना चाहिए, फिर वह सीमित क्यों ?

इनका सामुदायिक समाधान यह है :—

इन विचित्र स्थितियों के कारण कर्म पुद्गल हैं, ये विचित्रताएं कर्म-पुद्गल-प्रभावित चेतना में होती हैं।

क्रमिक समाधान यों है :—

( १ ) आवृत्त चैतन्य अस्थिर स्वभाव वाला होता है, पदार्थों को क्रम पूर्वक जानता है, इसलिए—वह अव्यवस्थित और उद्भ्रान्त होता है। इसलिए एक पदार्थ में चिरकाल तक उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। अन्तर्-मूहूर्त्त से अधिक एक विषय में प्रवृत्ति नहीं होती ४७। प्रस्तुत विषय में ज्ञान की प्रवृत्ति रुकती है, दूसरे में प्रारम्भ होती है, तब पूर्व ज्ञात अर्थ की विस्मृति हो जाती है, वह संस्कार रूप बन जाता है।

( २ ) सूर्य का स्वभाव है, पदार्थों को प्रकाशमान् करना। किन्तु मेघाच्छन्न

सूर्य उन्हें स्पष्टतया प्रकाशित नहीं करता—यही स्थिति चैतन्य की है। कर्म-पुद्गलों से आवृत चैतन्य पदार्थों को व्यक्त रूप में नहीं जान पाता। अव्यक्तता का मात्राभेद आवरण के तरतम भाव पर निर्भर है।

( ३ ) चेतना आवृत होती है और ज्ञान की सहायक-सामग्री दोषपूर्ण होती है, तब संशय, भ्रम आदि होते हैं ४८।

( ४ ) ससीम ज्ञान का कारण चैतन्य का आवरण है ही।

### इन्द्रिय और मन का विभाग क्रम तथा प्राप्ति क्रम

ज्ञान का आवरण हटता है, तब लब्धि होती है ४९—वीर्य का अन्तराय दूर होता है, तब उपयोग होता है ५०। ये दो ज्ञानेन्द्रिय और ज्ञान मन के विभाग हैं—आत्मिक चेतना के विकास-अंश हैं।

इन्द्रिय के दो विभाग और हैं—निर्वृत्ति-आकार-रचना और उपकरण-विषय-ग्रहण-शक्ति। ये दोनों ज्ञान की सहायक इन्द्रिय—पौद्गलिक इन्द्रिय के विभाग हैं—शरीर के अंश हैं। इन चारों के समुदय का नाम इन्द्रिय है। चारों में से एक अंश भी विकृत हो तो ज्ञान नहीं होता। ज्ञान का अर्थ-ग्राहक अंश उपयोग है ५१। उपयोग ( ज्ञान की प्रवृत्ति ) उतना ही हो सकता है, जितनी लब्धि ( चेतना की योग्यता ) होती है। लब्धि होने पर भी उपकरण न हो तो विषय का ग्रहण नहीं हो सकता। उपकरण-निर्वृत्ति के बिना काम नहीं कर सकता। इसलिए ज्ञान के समय इनका विभाग-क्रम यून बनता है :—

( १ ) निर्वृत्ति ( २ ) उपकरण ( ३ ) लब्धि ( ४ ) उपयोग।

इनका प्राप्तिक्रम इससे भिन्न है। उसका रूप इस प्रकार बनता है—( १ ) लब्धि ( २ ) निर्वृत्ति ( ३ ) उपकरण ( ४ ) उपयोग ५२। अमुक प्राणी में इतनी इन्द्रियां बनती हैं, न्यूनाधिक नहीं बनती, इसका नियामक इनका प्राप्तिक्रम है। इसमें लब्धि की मुख्यता है। जिस प्राणी में जितनी इन्द्रियों की लब्धि होती है, उसके उतनी ही इन्द्रियों के आकार, उपकरण और उपयोग होते हैं ५३।

हम जब एक वस्तु का ज्ञान करते हैं तब दूसरी का नहीं करते—हमारे ज्ञान में यह विपलव नहीं होता, इसका नियामक विभाग-क्रम है। इसमें

उपयोग की मुख्यता है। उपयोग निर्वृत्ति आदि निरपेक्ष नहीं होता किन्तु इन तीनों के होने पर भी उपयोग के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। उपयोग ज्ञानावरण के विलय की योग्यता और वीर्य-विकास—दोनों के संयोग से बनता है। इसलिए एक वस्तु को जानते समय दूसरी वस्तुओं को जानने की शक्ति होने पर भी उनका ज्ञान इसलिए नहीं होता कि वीर्य-शक्ति हमारी ज्ञान-शक्ति को शायमान वस्तु की ओर ही प्रवृत्त करती है ५४।

इन्द्रिय-प्राप्ति की दृष्टि से प्राणी पांच भागों में विभक्त होते हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। किन्तु इन्द्रिय ज्ञान-उपयोग की दृष्टि से सब प्राणी एकेन्द्रिय ही होते हैं। एक साथ एक ही इन्द्रिय का व्यापार हो सकता है। एक इन्द्रिय का व्यापार भी स्व-विषय के किसी विशेष अंश पर ही हो सकता है सर्वांशतः नहीं ५५।

### उपयोग

उपयोग दो प्रकार का होता है ५६। ( १ ) संविज्ञान और ( २ ) अनुभव। वस्तु की उपलब्धि ( ज्ञान ) को 'संविज्ञान' और सुख-दुःख के संवेदन को 'अनुभव' कहा जाता है ५७।

- ( १ ) कई जीव ज्ञान-युक्त होते हैं, वेदना-युक्त नहीं; जैसे—मुक्त आत्माएं।
- ( २ ) कई जीव ज्ञान ( स्पष्ट ज्ञान ) युक्त नहीं होते, वेदना-युक्त होते हैं; जैसे—एकेन्द्रिय जीव।
- ( ३ ) त्रस जीव दोनों युक्त होते हैं।
- ( ४ ) अजीव में दोनों नहीं होते।

एकेन्द्रिय से मनस्क पञ्चेन्द्रिय तक के जीव शारीरिक वेदना का अनुभव करते हैं। उनमें मन नहीं होता, इसलिए मानसिक वेदना उनके नहीं होती ५८। ज्ञान के मति, श्रुत आदि पांच प्रकार हैं, जो पहले बताये जा चुके हैं। ज्ञान ज्ञानावरण के विलय से होता है। ज्ञान की दृष्टि से जीव विज्ञ कहलाता है। संज्ञा दस या सोलह हैं ५९। वे कर्मों के सन्निपात—सम्मिश्रण से बनती हैं। इनमें कई संज्ञाएं ज्ञानात्मक भी हैं, फिर भी वे प्रवृत्ति-संवलित हैं, इसलिए शुद्ध ज्ञान रूप नहीं हैं।

संज्ञाएँ ६०

१—आहार	६—मान
२—भय	७—माया
३—मैथुन	८—लोभ
४—परिग्रह	९—अघ
५—क्रोध	१०—लोक

संज्ञा की दृष्टि से जीव 'वेद' कहलाता है ६१। इनके अतिरिक्त तीन संज्ञाएँ और हैं :—[ नं० सू० ]

- ( १ ) हेतुवादोपदेशिकी
- ( २ ) दीर्घकालिकी
- ( ३ ) सम्यग्-दृष्टि.....

ये तीनों ज्ञानात्मक हैं। संज्ञा का स्वरूप समझने से पहले कर्म का कार्य समझना उपयोगी होगा। संज्ञाएँ आत्मा और मन की प्रवृत्तियाँ हैं। वे कर्म द्वारा प्रभावित होती हैं। कर्म आठ हैं। उन सब में 'मोह' प्रधान है। उसके दो कार्य हैं :—तत्त्व-दृष्टि या श्रद्धा को विकृत करना और चरित्र को विकृत करना। दृष्टि को विकृत बनाने वाले पुद्गल 'दृष्टि मोह' और चरित्र को विकृत बनाने वाले पुद्गल 'चारित्र्य मोह' कहलाते हैं। चारित्र्य मोह के द्वारा प्राणी में विविध मनोवृत्तियाँ बनती हैं—( आज का मनोविज्ञान जिन्हें स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ कहता है ) जैसे—भय, घृणा, हंसी, सुख, कामना, संग्रह, भगडालूपन, भोगासक्ति यौन सम्बन्ध आदि-आदि।

तीन एषणाएँ :—( १ ) मैं जीवित रहूँ, ( २ ) धन बढ़े, ( ३ ) परिवार बढ़े; तीन प्रधान मनोवृत्तियाँ :—( १ ) सुख की इच्छा ( २ ) किसी वस्तु को पसन्द करना या उससे घृणा करना। ( ३ ) विजयाकाँक्षा अथवा नया काम करने की भावना ६२—ये सभी चारित्र्य मोह द्वारा सृष्ट होते हैं। चारित्र्य-मोह परिस्थितियों द्वारा उत्तेजित हो अथवा परिस्थितियों से उत्तेजित हुए बिना ही प्राणियों में भावना या अन्तःक्षोभ पैदा करता है—जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि। मोह के सिवाय शेष कर्म आत्म-शक्तियों को आवृत्त करते हैं विकृत नहीं।

- ( १ ) ज्ञानावरण के पुद्गल ज्ञान—सविकल्प या साकार चेतना को आवृत करते हैं ।
- ( २ ) दर्शनावरण के पुद्गल दर्शन—निर्विकल्प या निराकार चेतना को आवृत करते हैं ।
- ( ३ ) अन्तराय के पुद्गल सामर्थ्य में विघ्न डालते हैं ।
- ( ४ ) वेदनीय के पुद्गल आत्मिक आनन्द को दवाते हैं, पौद्गलिक सुख और दुःख के कारण बनते हैं ।
- ( ५ ) नाम के पुद्गल अमूर्तिकता को दवाते हैं, मूर्तिकता—अच्छे, बुरे, शरीरादि के कारण बनते हैं ।
- ( ६ ) गोत्र के पुद्गल अगुरुलघुता—आत्म-साम्य को दवाते हैं, वैषम्य—छुटपन, बड़प्पन के कारण होते हैं ।
- ( ७ ) आयुष्य के पुद्गल शाश्वतिक स्थिति को दवाते हैं, जीवन और मरण के कारण बनते हैं ।

### (१) आहार संज्ञा

—खाने की अभिलाषा वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होती है । यह मूल कारण है । इसको उत्तेजित करने वाले तीन गौण कारण और हैं :—

- ( १ ) रिक्त-कोष्ठता ।
- ( २ ) आहार के दर्शन आदि से उत्पन्न मति ।
- ( ३ ) आहार सम्बन्धी चिन्तन ।

### (२) भय संज्ञा

भय की वृत्ति मोह कर्म के उदय से बनती है ।

भय की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं :—

- ( १ ) हीन-सत्वता ।
- ( २ ) भय के दर्शन आदि से उत्पन्न मति ।
- ( ३ ) भय सम्बन्धी चिन्तन ।

### (३) मैथुन संज्ञा

मैथुन की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है—

मैथुन की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

- ( १ ) मांस और रक्त का उपचय ।
- ( २ ) मैथुन-सम्बन्धी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति ।
- ( ३ ) मैथुन-सम्बन्धी चिन्तन ।

#### (४) परिग्रह संज्ञा

परिग्रह की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है ।

परिग्रह की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं :—

- ( १ ) अविमुक्तता ।
- ( २ ) परिग्रह-सम्बन्धी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति ।
- ( ३ ) परिग्रह-सम्बन्धी चिन्तन ।

इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ—ये सभी वृत्तियां मोह से बनती हैं । वीतराग-आत्मा में—ये वृत्तियां नहीं होतीं । ये आत्मा के सहज गुण नहीं किन्तु मोह के योग से होने वाले विकार हैं ।

#### (५) ओघ संज्ञा

अनुकरण की प्रवृत्ति अथवा अव्यक्त चेतना या सामान्य-उपयोग, जैसे—लताएं वृक्ष पर चढ़ती हैं, यह वृक्षारोहण का ज्ञान 'ओघ-संज्ञा' है । लोक-संज्ञा—लौकिक कल्पनाएं अथवा व्यक्त चेतना या विशेष उपयोग ६३।

आहार भय परिग्रह, मे हूण सुख दुःख मोह वित्तिगिच्छा ।

कोह माण माय लोहे, सोगे लोगे य धम्मो हे ॥—

( आचाराङ्ग निर्युक्ति ३९ गाथा १।१।११ )

- |                       |                         |                    |
|-----------------------|-------------------------|--------------------|
| ( १ ) आहार-संज्ञा     | ( ६ ) मोह-संज्ञा        | ( ११ ) लोभ-संज्ञा  |
| ( २ ) भय-संज्ञा       | ( ७ ) विचिकित्सा-संज्ञा | ( १२ ) शोक-संज्ञा  |
| ( ३ ) परिग्रह-संज्ञा  | ( ८ ) क्रोध-संज्ञा      | ( १३ ) लोक-संज्ञा  |
| ( ४ ) मैथुन-संज्ञा    | ( ९ ) मान-संज्ञा        | ( १४ ) धर्म-संज्ञा |
| ( ५ ) सुख-दुःख-संज्ञा | ( १० ) माया-संज्ञा      |                    |

ये संज्ञाएं एकेन्द्रिय जीवों से लेकर समनस्क पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों में होती हैं ।

संवेदन दो प्रकार का होता है—इन्द्रिय-संवेदन और आवेग । इन्द्रिय

संवेदन दो प्रकार का होता है ।

( १ ) सात-संवेदन.....सुखानुभूति

( २ ) असात-संवेदन.....दुःखानुभूति<sup>६४</sup>

आवेग दो प्रकार का होता है :—

( १ ) कषाय ( २ ) नो कषाय <sup>६५</sup> ।

### कषाय

आत्मा को रंगने वाली वृत्तियां—क्रोध, मान, माया, लोभ । ये तीव्र आवेग हैं । इनकी उत्पत्ति सहेतुक और निहंतुक दोनों प्रकार की होती है । जिस व्यक्ति ने प्रिय वस्तु का वियोग किया, करता है, करने वाला है, उसे देख क्रोध उभर आता है—यह सहेतुक क्रोध है <sup>६६</sup>। किसी बाहरी निमित्त के बिना केवल क्रोध-वेदनीय -पुद्गलों के प्रभाव से क्रोध उत्पन्न होता है, वह निहंतुक है <sup>६७</sup>।

### नो कषाय

कषाय को उत्तेजित करने वाली वृत्तियां—हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, घृणा, स्त्री-वेद ( स्त्री-सम्बन्धी अभिलाषा ), पुरुष-वेद, नपुंसक वेद । कई आवेग 'संज्ञा' में वर्गीकृत हैं और कई उनसे भिन्न हैं । ये सामान्य आवेग हैं—इनमें से हास्य आदि की उत्पत्ति सकारण और अकारण दोनों प्रकार की होती है । एक समय में एक ज्ञान और एक संवेदन होता है । समय की सूक्ष्मता से भिन्न-भिन्न संवेदनों के क्रम का पता नहीं चलता किन्तु दो संवेदन दो भिन्न काल में होते हैं ।

### उपयोग के दो प्रकार

चेतना दो प्रकार की होती है—साकार और अनाकार <sup>६८</sup>। वस्तुमात्र को जानने वाली चेतना अनाकार और उसकी विविध परिणतियों को जानने वाली चेतना साकार होती है । चेतना के—ये दो रूप उसके स्वभाव की दृष्टि से नहीं किन्तु विषय-ग्रहण की दृष्टि से बनते हैं । हम पहले अभेद, स्थूल रूप या अवयवी को जानते हैं, फिर भेदों को, सूक्ष्म रूपों या अवयवों को जानते हैं । अभेदग्राही चेतना में आकार, विकल्प या विशेष नहीं होते, इसलिए वह अनाकार या दर्शन कहलाती है । भेदग्राही चेतना में आकार, विकल्प या

विशेष होते हैं, इसलिए उसका नाम साकार या ज्ञान होता है।

### अव्यक्त और व्यक्त चेतना

अनावृत चेतना व्यक्त ही होती हैं। आवृत चेतना दोनों प्रकार की होती है—मन रहित इन्द्रिय ज्ञान अव्यक्त होता है और मानस ज्ञान व्यक्त। सुप्त—मूर्च्छित आदि दशाओं में मन का ज्ञान भी अव्यक्त होता है, चंचल-दशा में वह अर्ध-व्यक्त भी होता है।

अव्यक्त चेतना को अर्धवसाय, परिणाम आदि कहा जाता है। अर्ध-व्यक्त चेतना का नाम है—हेतुवादीपदेशिकी संज्ञा<sup>६९</sup>। यह दो इन्द्रियों वाले जीवों से लेकर अगर्भज पञ्चेन्द्रिय जीवों में होती है। इसके द्वारा उनमें इष्ट-अनिष्ट की प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। व्यक्त मन के बिना भी इन प्राणियों में सम्मुख आना, वापिस लौटना, सिकुड़ना, फैलना, बोलना, करना और दौड़ना आदि-आदि प्रवृत्तियां होती हैं<sup>७०</sup>।

गर्भज पञ्चेन्द्रिय जीवों में दीर्घकालिकी संज्ञा या मन होता है। वे त्रैकालिक और आलोचनात्मक विचार कर सकते हैं। सत्य की श्रद्धा या सत्य का आग्रह रखने वालों में सम्यग्-दृष्टि संज्ञा होती है। मानसिक ज्ञान का यथार्थ और पूर्ण विकास इन्हीं को होता है।

### मानसिक विकास

मानसिक विकास चार प्रकार से होता है :—

- ( १ ) प्रतिभा, सहज बुद्धि या औत्पत्तिकी बुद्धि से।
- ( २ ) आत्म-संयम का अनुशासन—गुरु शुश्रूषा से उत्पन्न बुद्धि—‘वैनयिकी बुद्धि’ से।
- ( ३ ) कार्य करते-करते मन का कौशल बढ़ता है—इसे ‘कार्मिकी बुद्धि’ कहा जाता है; इस बुद्धि से।
- ( ४ ) आयु बढ़ने के साथ ही मन की योग्यता बढ़ती है। युवावस्था बीत जाने के बाद भी मानसिक उन्नति होती रहती है—इसका नाम है ‘पारिणामिकी बुद्धि’; इस बुद्धि से।

मानसिक विकास सब समनस्क प्राणियों में समान नहीं होता। उसमें अनन्तगुण तरतमभाव होता है। दो समनस्क व्यक्तियों का ज्ञान परस्पर

अनन्तगुणहीन और अनन्तगुण अधिक हो सकता है । इसका कारण उनकी आन्तरिक योग्यता, ज्ञानावरण के विलय का तारतम्य है ।

### बुद्धि का तरतमभाव

जिसमें शिक्षात्मक और क्रियात्मक अर्थ को ग्रहण करने की क्षमता होती है, वह 'समनस्क' होता है ७<sup>१</sup>। बुद्धि समनस्कों में ही होती है । उसके सात प्रधान अङ्ग हैं :—

- १—ग्रहण-शक्ति
- २—विमर्श ”
- ३—निर्णय ”
- ४—धारणा ७<sup>२</sup>”
- ५—स्मृति ”
- ६—विश्लेषण ”
- ७—कल्पना ७<sup>३</sup>”

मन का शारीरिक ज्ञान-तन्तु के केन्द्रों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है । ज्ञान-तन्तु प्रौढ़ नहीं बनते, तब तक बौद्धिक विकास पूरा नहीं होता । जैसे—शक्ति-प्रयोग के लिए शारीरिक विकास अपेक्षित होता है, वैसे ही बौद्धिक विकास के लिए ज्ञान-तन्तुओं की प्रौढ़ता । वह सोलह वर्ष तक पूरा हो जाता है । बाद में साधारणतया बौद्धिक विकास नहीं होता, केवल जानकारी बढ़ती है ।

बुद्धि-शक्ति सबकी समान नहीं होती । उसमें विचित्र न्यूनाधिक्य होता है । विचित्रता का कारण अपना-अपना आवरण-विलय होता है । सब विचित्रताएँ बतायी नहीं जा सकतीं । उनके वर्गीकृत रूप वारह हैं, जो प्रत्येक बुद्धि-शक्ति के साथ सम्बन्ध रखते हैं :—

( १ ) बहु	ग्रहण	( ५ ) क्षिप्र	ग्रहण
( २ ) अल्प	”	( ६ ) चिर	”
( ३ ) बहुविध	”	( ७ ) निश्चित	”
( ४ ) अल्पविध	”	( ८ ) अनिश्चित	”

(६) संदिग्ध	”	(११) ध्रुव	”
(१०) असंदिग्ध	”	(१२) अध्रुव	”

इसी प्रकार विमर्श, निर्णय आदि के भी ये रूप बनते हैं। अवस्था के साथ बुद्धि का सम्बन्ध नहीं है। वृद्ध, युवा और बालक—ये भेद अवस्थाकृत हैं, बुद्धिकृत नहीं। जैसा कि आचार्य जिनसेन ने लिखा है—

“वर्षीयांसो यवीयांस, इति भेदो वयस्कृतः।”

न बोधवृद्धिर्वाधक्ये, न यून्यपचयोधियः७४।

तुलना—फ्रेंच मनोवैज्ञानिक आल्फ्रेड वीने की बुद्धि माप की प्रणाली के अनुसार सात वर्ष का बच्चा जो बीस से एक तक गिनने में असमर्थ है, छह वर्ष की उम्र के बच्चों के निमित्त बनाये गए प्रश्नों का सही उत्तर दे सकता है तो उसकी बौद्धिक उम्र छह वर्षों की मानी जाएगी। इसके प्रतिकूल सात वर्ष की उम्र वाला बच्चा ६ वर्ष के बच्चों के लिए बनाये गए प्रश्नों का उत्तर दे सके तो उसकी बौद्धिक उम्र अवश्य ही नौ वर्ष की आंकी जाएगी।

### मानसिक योग्यता के तत्त्व

मानसिक योग्यता या क्रियात्मक मन के चार तत्त्व हैं :—

- ( १ ) बुद्धि (२) उत्साह-इच्छा-शक्ति या संकल्प (३) उद्योग (४) भावना ।
- ( १ ) बुद्धि<sup>७५</sup> :—इन्द्रिय और अर्थ के सहारे होने वाला मानसिक ज्ञान ।
- ( २ ) उत्साह :—लब्धि—वीर्यान्तराय—कार्यक्षमता की योग्यता में बाधा डालने वाले कर्म पुद्गल, के विलय से उत्पन्न सामर्थ्य—क्रिया-क्षमता ।
- ( ३ ) उद्योग :—करण-वीर्यान्तराय से उत्पन्न क्रियाशीलता ।
- ( ४ ) भावना :—पर-प्रभावित दशा ।

बुद्धि का कार्य है विचार करना, सोचना, समझना, कल्पना करना, स्मृति, पहिचान, नये विचारों का उत्पादन, अनुमान करना आदि-आदि ।

उत्साह का कार्य है—आवेश, स्फूर्ति या सामर्थ्य उत्पन्न करना ।

उद्योग का कार्य है—सामर्थ्य का कार्यरूप में परिणमन ।

भावना का कार्य है :—तन्मयता उत्पन्न करना ।

चेतना की विभिन्न प्रवृत्तियाँ

चेतना का मूल स्रोत आत्मा है। उसकी सर्व मान्य दो प्रवृत्तियाँ हैं— इन्द्रिय और मन। इन्द्रिय ज्ञान वार्तमानिक और अनालोचनात्मक होता है। इसलिए उसकी प्रवृत्तियाँ बहुमुखी नहीं होतीं। मनस् का ज्ञान त्रैकालिक और आलोचनात्मक होता है। इसलिए उसकी अनेक अवस्थाएं बनती हैं :—

संकल्प :—बाह्य पदार्थों में ममकार।

विकल्प :—हर्ष-विषाद का परिणाम—मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी आदि।

निदान :—भौतिक सुख के लिए उत्कट अभिलाषा या प्रार्थना।

स्मृति :—दृष्ट श्रुत और अनुभूति आदि विषयों की याद।

जाति-स्मृति :—पूर्व जन्म की याद।

प्रत्यभिज्ञा :—पहिचान।

कल्पना :—तर्क, अनुमान, भावना, कषाय, स्वप्न।

श्रद्धान :—सम्यक् या मिथ्या मानसिक रुचि।

लेश्या :—शुभ या अशुभ मानसिक परिणाम।

ध्यान<sup>६</sup> :—मानसिक एकाग्रता आदि-आदि।

इनमें स्मृति, जाति-स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान—ये विशुद्ध ज्ञान की दशाएं हैं। शेष दशाएं कर्म के उदय या विलय से उत्पन्न होती हैं। संकल्प, विकल्प, निदान, कषाय और स्वप्न—ये मोह-प्रभावित चेतना के चिन्तन हैं। भावना, श्रद्धान, लेश्या और ध्यान—ये मोह-प्रभावित चेतना में उत्पन्न होते हैं तब असत् और मोह-शून्य चेतना में उत्पन्न होते हैं तब सत् बन जाते हैं।

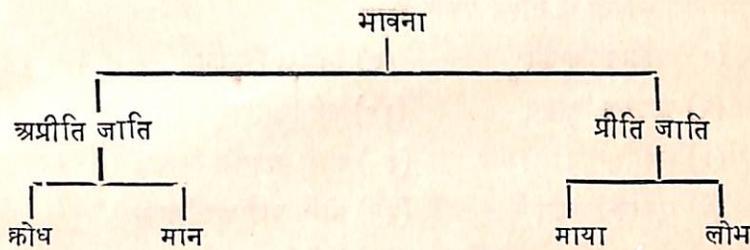
स्वप्न-विज्ञान

फ्रायड के अनुसार स्वप्न मन में की हुई इच्छाओं के परिणाम हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार स्वप्न मोह-कर्म और पूर्व-संस्कार के उद्बोध के परिणाम हैं। वे यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार के होते हैं<sup>७</sup>। समाधि और असमाधि—इन दोनों के निमित्त बनते हैं<sup>८</sup>। किन्तु वे मोह प्रभावित चैतन्य-दशा में ही उत्पन्न होते हैं अन्यथा नहीं<sup>९</sup>।

स्वप्न-ज्ञान का विषय प्रद्वले-दृष्ट, श्रुत, अनुभूत वस्तु ही होती है।

स्वप्न अर्ध-निद्रित दशा में आता है<sup>८०</sup> । यह नींद का परिणाम नहीं किन्तु इसे नींद के साहचर्य की आवश्यकता होती है । जागृत दशा में जैसे वस्तु—अनुसारी ज्ञान और कल्पना दोनों होते हैं, वैसे ही स्वप्न-दशा में भी अतीत की स्मृति, भविष्य की सत्-कल्पना और असत्-कल्पना ये सब होते हैं । स्वप्न-विज्ञान मानसिक ही होता है ।

### भावना



भावना की दो जातियाँ हैं—(१) अप्रीति (२) प्रीति ।

अप्रीति के दो भेद हैं—क्रोध, मान ।

प्रीति के दो भेद हैं—माया, लोभ ।

अप्रीति जाति की सामान्य दृष्टि से क्रोध और मान द्वेष है । प्रीति जाति की सामान्य दृष्टि से माया और लोभ राग है ।

व्यवहार की दृष्टि से क्रोध और मान द्वेष है । दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए माया का प्रयोग होता है, वह भी द्वेष है । लोभ मूर्च्छात्मक है, इसलिए वह राग है

ऋषुसूत्र की दृष्टि से क्रोध अप्रीतिरूप है, इसलिए द्वेष है । मान, माया और लोभ कदाचित् राग और कदाचित् द्वेष होते हैं । मान अहंकारोपयोगात्मक होता है, अपने बहुमान की भावना होती है, तब वह प्रीति की कोटि में जाकर राग बन जाता है और पर गुण-द्वेषोपयोगात्मक होता है, तब अप्रीति की कोटि में जा वही द्वेष बन जाता है । दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए माया और लोभ प्रयुक्त होते हैं, तब वे अप्रीति रूप बन द्वेष की कोटि में चले जाते हैं । अपने धन, शरीर आदि की सुरक्षा या पोषण के लिए प्रयुक्त होते हैं, तब वे मूर्च्छात्मक होने के कारण राग बन जाते हैं ।

शाब्दिक दृष्टि से दो ही वृत्तियां हैं<sup>८१</sup> (१) लोभ या राग, (२) क्रोध या द्वेष ।

मान और माया जब स्वहित-उपयोगात्मक होते हैं, तब मूर्च्छात्मक होने से लोभ और लोभ होने से राग बन जाते हैं । वे परोपघात-उपयोगात्मक होते हैं, तब घृणात्मक होने से क्रोध और क्रोध होने से द्वेष बन जाते हैं<sup>८२</sup> ।

यह वैभाविक या मोह-प्रभावित भावना का रूप है । मोहशून्य या स्वाभाविक भावना के सोलह प्रकार हैं—

- |                    |                                      |
|--------------------|--------------------------------------|
| (१) अनित्य-चिन्तन  | (६) निर्जरा-चिन्तन                   |
| (२) अशरण-चिन्तन    | (१०) धर्म-चिन्तन                     |
| (३) भव-चिन्तन      | (११) लोक-व्यवस्था चिन्तन             |
| (४) एकत्व-चिन्तन   | (१२) बोधि-दुर्लभता-चिन्तन            |
| (५) अन्यत्व-चिन्तन | (१३) मैत्री-चिन्तन                   |
| (६) अशौच चिन्तन    | (१४) प्रमोद-चिन्तन                   |
| (७) आस्रव-चिन्तन   | (१५) कारुण्य-चिन्तन                  |
| (८) संवर-चिन्तन    | (१६) माध्यस्थ्य-चिन्तन <sup>८३</sup> |

### श्रद्धा

श्रद्धा को विकृत करने वाले कर्म-पुद्गल चेतना को प्रभावित करते हैं, तब तात्त्विक धारणाएं मिथ्या बन जाती हैं । असत्य का आग्रह<sup>८४</sup> या आग्रह के बिना भी असत्य की धारणाएं जो बनती हैं<sup>८५</sup>, वे सहज ही नहीं होतीं । केवल वातावरण से ही वे नहीं बनतीं । उनका मूल कारण श्रद्धा मोहक पुद्गल हैं । जिसकी चेतना इन पुद्गलों से प्रभावित नहीं होती, उनमें असत्य का आग्रह नहीं होता । यह स्थिति नैसर्गिक और शिश्चा-लभ्य दोनों प्रकार की होती है ।

### लेश्या

हमारे कार्य विचारों के अनुरूप और विचार चारित्र्य को विकृत बनाने वाले पुद्गलों के प्रभाव और अप्रभाव के अनुरूप बनते हैं । कर्म-पुद्गल हमारे कार्यों और विचारों को भीतर से प्रभावित करते हैं, तब बाहरी पुद्गल उनके सहयोगी बनते हैं । ये विविध रंग वाले होते हैं । कृष्ण, नील और कापोत—इन

तीन रंगों वाले पुद्गल विचारों की अशुद्धि के निमित्त बनते हैं। तेजस्, पद्म और श्वेत—ये तीन पुद्गल विचारों की शुद्धि में सहयोग देते हैं। पहले वर्ग के रंग विचारों की अशुद्धि के कारण बनते हैं, यह प्रधान वात नहीं है किन्तु चारित्र्य मोह-प्रभावित विचारों के सहयोगी जो बनते हैं, वे कृष्ण, नील और कापोत रंग के पुद्गल ही होते हैं—प्रधान वात यह है। यही बात दूसरे वर्ग के रंगों के लिए है।

### ध्यान

मन या वृत्तियों के केन्द्रीकरण की भी दो स्थितियाँ होती हैं :—

(१) विभावोन्मुख (२) स्वभावोन्मुख

(क) प्रिय वस्तु का वियोग होने पर फिर उसके संयोग के लिए

(ख) अप्रिय वस्तु का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए—जो एकाग्रता होती है, वह व्यक्ति को आर्त्त—दुःखी बनाती है।

(ग) विषय—वासना की सामग्री के संरक्षण के लिए—

(घ) हिंसा के लिए—

(ङ) असत्य के लिए—

(च) चौर्य के लिए—

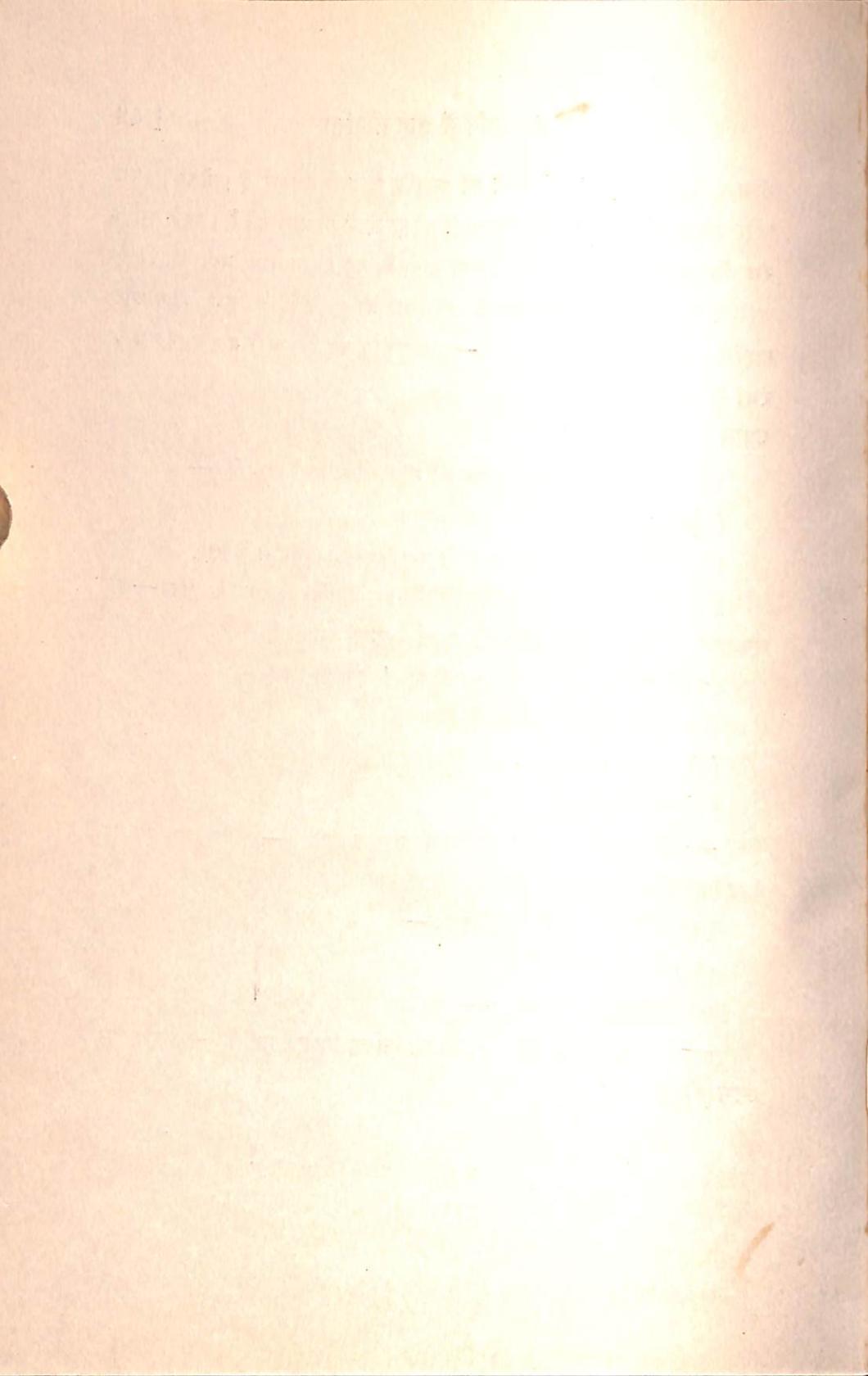
—होने वाली एकाग्रता व्यक्ति को क्रूर बनाती है—इसलिए मन का यह केन्द्रीकरण विभावोन्मुख है।

(क) सत्यासत्य विवेक के लिए :—

(ख) दोष-मुक्ति के लिए :—

(ग) कर्म-मुक्ति के लिए :—

—होने वाली एकाग्रता व्यक्ति को आत्म-निष्ठ बनाती है—इसलिए वह स्वभावोन्मुख है।



परिशिष्ट : १ :  
( टिप्पणियां )



: एक :

- १—जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया । —आचा० ५।५।१६६  
 २—भग० २५।४  
 ३—उत्त० २८।६  
 ४—उत्त० २८।११  
 ५—प्रमेयत्वादिभिधर्मैः, अचिदात्मा चिदात्मकः ।  
 ज्ञान दर्शनतस्तस्मात्, चेतनाचेतनात्मकः ॥ —स्व० सं० ३  
 ६—ज्ञानाद् भिन्नो न चा भिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन ।  
 ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोयमात्मेति कीर्तितः ॥ —स्व० सं० ४  
 ७—णारो पुण णियमं आया —भग० १२।१०  
 ८—जेण वियाणइ से आया —आचा० ५।५।१६६  
 ९—जैन० दी० २।२३,  
 १०—जैन० दी० २।६,  
 ११—जैन १० दी० २।२३  
 १२—पुट्टं सुणोइ सद्दं, रूपं पुण पासइ अपुट्टं तु ।  
 गधं, रसं च फासं, बद्ध-पुट्टं वियागरे ॥ —नं० ३७ गाथा० ७८,  
 १३—नं० ३७ गाथा० ७८,  
 १४—विषयानुरूपभवनाच्च, बुद्धि-वृत्तेरनुभवत्वम् ॥  
 १५—सन्ध्येव दिन-रात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक् ।  
 बुद्धेरनुभवो दृष्टः केवलार्कारुणोदयः ॥  
 —ज्ञा० सा० अष्टक २६ श्लोक १  
 १६—प्रज्ञा० ३५  
 १७—भग० ८।२  
 १८—भग० ८।२  
 १९—जैन० दी० २।७

२०—जैन० दी० २।१४

२१—जैन० दी० २।१६

२२—मननं मन्यते अनेन वा मनः ।

२३—आता भंते ! मणे अन्ने मणे ? गीयमा ! णो आतामणे,

अन्नेमणे...मणे मणिज्जमारो मणे.....। —भग० १३।७।४६४ ।

२४—मणं च मणजीविया वयंति त्ति...। —प्रश्न० ( आत्मवद्वार ) २

२५—सर्व-विषयमन्तः करणं युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गं मनः, तदपि द्रव्य-मनः  
पौद्गलिकमजीवग्रहणेन गृहीतम्, भाव-मनस्तु आत्मगुणत्वात्  
जीवग्रहणेनेति...। —सू० वृ० १।१२

२६—कालिओवएसेणं जस्सणं अत्थि ईहा, अबोहो, मग्गणा, गवेसणा,  
चिन्ता, वीमंसा सेणं सएणी त्ति लब्भई । —नं० ३६

२७—मनः सर्वेन्द्रिय प्रवर्तकम्, अन्तरेन्द्रियम्, स्व संयोगेन  
वाह्येन्द्रियानुग्राहकम् । अतएव सर्वोपलब्धि कारणम्...। —जैनतर्क ।

२८—इन्द्रियेणेन्द्रियायां हि, समनस्केन गृह्यते ।

कल्प्यते मनसा प्यूध्वं, गुणतो दोषतो यथा ॥ —च० सू० १।२०

२९—न्याय० सू० १।१।१६ ।

३०—वा० भा० १।१।१६ ।

३१—सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः —तर्कं स०

३२—संशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहासुखादिक्लमेच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि...।

—सन्म० ( काण्ड २ )

३३—चिन्त्यं विचार्यमुह्यं च, ध्येयं संकल्प्यमेव च ।

यत् किञ्चिद् मनसो ज्ञेयं, तत्सर्वं ह्यर्थं संज्ञकम् ॥ —च० सू० १।१८

३४—अवग्रह-ज्ञानमनक्षरं तस्याऽनिर्देश्य सामान्यमात्र प्रतिभाषात्मकतया  
निर्विकल्पकत्वात्, ईहादि ज्ञानं तु साक्षरं तस्य परामर्शादिरूपतयाऽवश्यं  
वर्णादिषितत्वात् । वि० भा० वृ०

३५—(क) वि० भा० वृ० २४२६-२४४८

(ख) येनैवेन्द्रियेण सह मनः संयुज्यते तदेवात्मीय विषय गुणग्रहणाय  
प्रवर्तते नेतरत् ) —आचा० वृ० १।२।१।६३

३६—(क) एगे णाणे...लब्धतो बहूनां बोधविशेषाणामेकदा सम्भवेऽपि  
उपयोगत एक एव सम्भवति एकूपयोगत्वाद् जीवानामिति.....

—स्था० वृ० १

(ख) एगे जीवाणं मणे.....मननलक्षणत्वेन सर्वमनस्सा मेकत्वात्...।

—स्था० वृ० १

(ग) एगे मणे देवासुर मणुआणं तंसि तंसि समयंसि...।—स्था० १

तुलना :—ज्ञानाऽयौगपद्यात् एकं मनः...। —न्याय सू० ३।२।५६

३७—तुलना—स्पर्शन इन्द्रिय को सर्वेन्द्रिय व्यापक और मन के साथ समवाय-  
सम्बन्ध से सम्बद्ध माना है। मन अणु होने पर भी स्पर्शन इन्द्रिय-सम्बद्ध  
होने के कारण सब इन्द्रियों में व्यापक रहता है। —च० सू० १।३।३६

३८—योग० ५।२

३९—सर्वेषां सत्त्वे निजिजण्णा... —भग० १।३

४०—अयौगपद्यात् ज्ञानानां, तस्याणुत्वमिहोच्यते...। —भा० प० ।

४१—चेतना मानसं कर्म... —अभि० को० ४।१

४२—यत् प्रायः श्रुताभ्यासमन्तरेणाऽपि सहज विशिष्ट क्षयोपशमवशादुत्पद्यते  
तदश्रुतनिश्चितमौत्पत्तिकयादिबुद्धिचतुष्टयम्...यत्तु पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमते-  
र्व्यवहारकाले पुनरश्रुतानुसारितया समुत्पद्यते तत् श्रुतनिश्चितम्...कर्म वि०

( देवेन्द्रसूरि कृत स्वोपज्ञ वृत्ति गा० ४ )

४३—(क) शब्दः वक्तृभिधीयमानः श्रोतृगतस्य श्रुतज्ञानस्य कारणं निमित्तं  
भवति, श्रुतञ्च वक्तृगत श्रुतापयोगरूपं व्याख्यानकारणादौ तस्य  
वक्तृभिधीयमानस्य शब्दस्य कारणं जायते, इत्यतः तस्मिन् श्रुत-  
ज्ञानस्य कारणभूते कार्यभूते वा शब्दे श्रुतोपचारः क्रियते। ततो  
न परमार्थतः शब्दः श्रुतं, किन्तूपचारतः। —वि० भा० वृ० ६६

(ख) “तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिर्भविष्यमाण स्तस्य  
भगवतः वाग्योग एव भवति न तु श्रुतम्, नामकमौदय जन्यत्वात्  
श्रुतस्य च क्षायोपशमित्वात्” —अथञ्च भवतु नामकमौदयजन्यः  
भाष्यमाणस्तु पुद्गलात्मकः शब्दः किं भवतु ? इति चेत् ? उच्यते  
सोऽपि श्रोतृणां भावश्रुतकारणत्वात् द्रव्यश्रुतमात्रं भवति न तु  
भावश्रुतम् । —न०

४४—शब्दोल्लेखान्वितमिन्द्रियादि-निमित्तं यज्ज्ञानमुदेति तच्छ्रुतज्ञानमिति ।  
तच्च कथं भूतम् ? इत्याह—‘निजकार्थोक्तिसमर्थमिति’ निजकः  
स्वस्मिन् प्रतिभासमानो योऽसौ घटादि रथः तस्योक्तिः परस्मै  
प्रतिपादनं तत्र समर्थं क्षमं निजकार्थोक्तिसमर्थम् । अयमिह  
भावार्थः—शब्दोल्लेखसहितं विज्ञानमुत्पन्नं स्वप्रतिभासमानार्थ-  
प्रतिपादकं शब्दं जनयति, तेन च परः प्रत्यायते, इत्येव  
निजकार्थोक्तिसमर्थमिदं भवति, अभिलाष्य वस्तुविषयमिति यावत् ।  
स्वरूप विशेषणं चैतत्, शब्दानुसारेणोत्पन्न-ज्ञानस्य निजकार्थोक्ति-  
सामर्थ्याऽव्यभिचारादिति...। —वि० भा० वृ० १००

४५—द्रव्यश्रुतमनक्षरम्-पुस्तकादिन्यस्ताक्षररूपं शब्दरूपं च, तदेव साक्षरं  
भावश्रुतमपि श्रुतानुसार्थाकारादि वर्णविज्ञानात्मकत्वात् साक्षरम्,  
पुस्तकादिन्यस्ताकाराद्यक्षररहितत्वात् शब्दाभावाच्च तदेवानक्षरम्,  
पुस्तकादिन्यस्ताक्षरस्य शब्दस्य च श्रुतान्तःपातित्वेन भावाश्रुते ऽसत्त्वात्;  
तदेवं मतेर्भावश्रुतस्य च साक्षरानक्षरकृतो नास्ति विशेषः ।

—वि० भा० वृ० १७०

४६—(क) तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइ ठवणिज्जाइ । —अनु० २

(ख) अत्रग्रहपेक्षयाऽनभिलापत्वाद्, ईहाद्यपेक्षया तु साभिलापत्वात्  
साभिलापानभिलापं मतिज्ञानम्, अश्रुतानुसारि च, संकेतकाल-  
प्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनो वा शब्दस्य व्यवहारकाले अननुसरणात् ।  
श्रुतज्ञानं तु साभिलापमेव, श्रुतानुसार्ये च, संकेतकालप्रवृत्तस्य  
श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनो वा शब्दरूपस्य श्रुतस्य व्यवहारकालेऽवश्य-  
मनुसरणादिति । —वि० भा० वृ० १००

४७—नं० २३

४८—श्रुतं द्विविधम्—परोपदेशः आगमग्रन्थश्च । व्यवहारकालात् पूर्वं तेन  
श्रुतेन कृत उपकारः संस्काराऽऽधानरूपो यस्य तत् कृतश्रुतोपकारम्, यज्-  
ज्ञानमिदानीं तु व्यवहारकाले तस्य पूर्वप्रवृत्तस्य संस्काराधायक  
श्रुतस्याऽनपेक्षमेव प्रवर्तते तत् श्रुतनिश्चितमुच्यते.....।

—वि० भा० वृ० १६८

४६—नं० १६

५०—भिक्षु० न्या० २-५

५१—नं० १७

५२—पहले चार ज्ञान आवरण के अपूर्ण क्षय से प्रगट होते हैं, इसलिए वे क्षायोपशमिक या छद्मस्थज्ञान कहलाते हैं ।

५३—केवल ज्ञान आवरण के पूर्ण क्षय से प्रगट होता है, इसलिए वह क्षायिक या केवल ज्ञान कहलाता है ।

५४—तेन द्रव्यमनसा प्रकाशितान् बाह्यांश्चिन्तनीयघटादीननुमानेन जानाति, यत एव तत्परिणतानि एतानि मनोद्रव्याणि तस्मादेवं विधेनेह चिन्तनीयवस्तुना भाव्यम्—इत्येवं चिन्तनीयवस्तुनि जानाति न साक्षादित्यर्थः । चिन्तको हि मूर्त्तममूर्त्तञ्च वस्तु चिन्तयेत् । न च छद्मस्थो ऽमूर्त्तं साक्षात् पश्यति । ततो ज्ञायते अनुमानादेव चिन्तनीयं वस्त्ववगच्छति... । —वि० भा० वृ० ८१४

५५—केवल मेगं सुद्धं, सगलमसाहारणं अणतं च —वि० भा० ८४

केवलमिति कोर्यः ? इत्याह—एकमसहायम्, इन्द्रियादिसाहाय्यानपेक्षितत्वात्, तद्भावेऽशेषछाद्मस्थिकज्ञाननिवृत्तेर्वा

—वि० भा० वृ० ८४

५६—भग० ६।१०

५७—शुद्धम्-निर्मलम्—सकलावरणमलकलंकविगमसम्भूतत्वात्

—वि० भा० वृ० ८४

५८—सकलम्-परिपूर्णम्—सम्पूर्णज्ञेयग्राहित्वात् —वि० भा० वृ० ८४

५९—असाधारणम्—अनन्य-सदृशम् तादृशापरज्ञानाभावात् ।

—वि० भा० वृ० ८४

६०—अनन्तम्—अप्रतिपातित्वेन विद्यमानपर्यन्तत्वात्

—वि० भा० वृ० ८४

६१—दशवै० ४।२२

२—अभि० चि० १।३१

६३—तत्रो केवली पणत्ता तंजहा—ओहिनाणकेवली,

केवल मणपज्जवनाणकेवली, केवलनाणकेवली । —स्था० ३।४

६४—प्र० नं० ४।४७ ।

६५—(क) मनोऽणुपरिमाणं न भवति, इन्द्रियत्वात्—नयनवत् । न च शरीर-  
व्यापित्वे युगपज्जानोत्पत्तिप्रसङ्गः तादृश-क्षयोपशम विशेषेणैव तस्य  
कृतोत्तरत्वात् । —प्र० नं० २० १।२

(ख) 'मनोणुवाद' की जानकारी के लिए देखिए ।

—न्या० सि० मु० का०

—न्या० ४।११।

६६—नं० सू० ४४

६७—णाणावरणिज्जे कम्मो दुविहे पण्यते, तंजहा—

देसणाणावरणिज्जे चैव सव्व णाणावरणिज्जे चैव —स्था० २।४

६८—प्र० सा० १।२७-३०

६९—भग० १।८

७०—त० भा० १।३१

७१—सच कालतः छद्मस्थानामन्तर्मुहुर्तकालं केवलिनामेकसामयिकः

—प्रज्ञा० वृ० २८

७२—सन्म० टी० पृ० ६०८

७३—सर्वा० सि० १।६, आ० १०१

७४—ज्ञा० वि०

७५—नं० १६, १८, २१, ३७, ६०

७६—नं० १६

७७—नं० ६०

७८—स्था० ५।३

७९—भग० ८।२

८०—अनन्तमलोकाकाशं केवलिना परिच्छिन्नं चेतदा उपलब्धावसानत्वा  
दनन्तत्वहानिः । अथाऽपरिच्छिन्नं तदा तत्स्वरूपपरिच्छेद-विरहेण सर्वज्ञत्वा  
भावः नैव दोषः । केवलिनां यज्ज्ञानं तदतिशयवत् क्षायिकमनन्तानन्त  
परिमाणं च, तेन तदनन्तमिति साक्षादवसीयते ततो नानन्तत्वस्य हानिर्न

वा सर्वज्ञतायाः । नह्यन्यथा स्थितमर्थमन्यथा वेत्ति सर्वज्ञो यथार्थज्ञत्वात्  
इति न तेन सान्तमनन्तत्वेन परिच्छिन्नं किन्तु अनन्तमनन्तत्वेन ।

— न्या० पृ० २२१

८१—भग० ५।४।१४२

८२—निय० १५८

८३—निय० १५८

१ दो :

१—उत्त० २८।१०।११

२—दशवै० ४।३

३—दशवै० ४।३

४—इह हि सकलघनपटल विनिर्मुक्तशारददिनमणिरिव समन्ततः समस्त  
वस्तु स्तोमप्रकाशनैकस्वभावो जीवः, तस्य च तथाभूतस्वभावः केवलज्ञान-  
मिति व्यपदिश्यते । —न० वृ० १

५—णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे परणत्ते-तंजहा—देसणाणावरणिज्जे चैव  
सव्वणाणावरणिज्जे चैव । —स्था० २।४

६—भग० ७।८

७—जैन० दी० ४।१

८—भग० ६।३२, प्रज्ञा० २३

९—गतिं पप्प, ठिइ'पप्प, भवंपप्प, पोग्गल परिणामं पप्प । —प्रज्ञा० पद २३

१०—बाह्यान्यपि द्रव्याणि, कर्मणामुदयक्षयोपशमादिहेतव उपलभ्यन्ते, यथा  
बाह्यौषधिर्जानावरण क्षयोपशमस्य, सुरापानं ज्ञानावरणोदयस्य, कथमन्यथा  
युक्तायुक्तविवेक-विकलतोपजायते ।... [ प्रज्ञा० पद० १७ ]

११—प्रज्ञा० पद० १३

१२—अणुत्तर कसिणं पडिपुण्णं निरावरणं वित्तिमिरं विमुद्धं लोगालोगप्पभावगं  
केवल वरनाणदंसण संमुप्पा इइ । —उत्त० २६।७१

१३—मणपज्जवणाणं पुण जणमण परिचित्थित्थपागडणं । —नं० गाथा० ५८

१४—मनो द्रव्य स्थितानेव जानाति, न पुनश्चिन्तनीय बाह्यघटादि वस्तु-  
गतानिति । —वि० भा० वृ० गाथा ८१४

१५—दध्ममणोपज्जाए जाणइ पासइ य तग्गएणं ते ? तेणावभासिए उण  
जाणइ वज्जेणुमाणेणं । —वि० भा० गाथा० ८१४

१६—यथा प्राकृतोलोकः स्फुटमाकारैर्मनसं भावं जानाति, तथा मनः  
पर्यवज्ञान्यपि मनोद्रव्यगतानाकारानवलोक्य तं तं मानसं भावं जानाति ।  
—वि० भा० वृ० १।३६

१७—सरूवी चैव अरूवी चैव—स्था० २।१।५७

१८—उत्त० ३६।४, ६६

१९—नं० २१

२०—त० वृ० १।६ पृ० ७०

२१—तन्दु० वै०

२२—पुढवी काइयाणं ओरालिए जाव वणस्सइकाइयाणं...वे इन्दियाणं...  
अट्ठिमंस सोणिय वद्धे वाहिरए ओरालिए जाव चउरिन्दियाणं.....  
पंचिदिय तिरिक्ख जोणियाणं अट्ठिमंस सोणियन्हायु सिरावद्धे वाहिरए  
ओरालिए—मणस्साणं वि एव मेव.....—स्था० २।१

२३—मनस्त्वपरिणतानिष्ट—पुद्गल-निचयरूपं द्रव्यमनः अनिष्टचिन्ता-  
प्रवर्तनेन जीवस्य देहदौर्बल्याद्यापत्या ह्यन्निरुद्ध वायुवद् उपघातं जनयति,  
तदेवच शुभ-पुद्गलपिंडरूपं तस्यानुकूलचिन्ताजनकत्वेन हर्षाद्यभिनिवृत्त्या  
भेषजवदनुग्रहं विधत्ते इति..... —वि० भा० वृ० गाथा २२०

२४—संकेतकाल प्रवृत्तं, श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनं वा घटादि शब्दमनुसृत्य वाच्य-  
वाचक भावेन संयोज्य 'घटोघटः' इत्याद्यन्तर्जल्पाकार मतः शब्दोल्लेखा  
न्वित-मिन्द्रियादि निमित्तं यज्ज्ञानभुदेति तच्छ्रुत ज्ञानमिति  
—वि० भा० वृ० गाथा १००

२५—नं० ३, ४, ५

२६—जैन० दी० २-२४

२७—,, ,, २ २६

२८—,, ,, २-३०

२९—श्रुतमनिन्द्रियस्य... [ त० सू० १।२२... ]

- ३०—जस्स णं नत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमंसा सेणं  
असण्णिति लब्भई —नं० ४१
- ३१—जस्स णं अत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमंसा से णं  
सण्णिति लब्भई—नं० ४०
- ३२—वृ० भा० १।१
- ३३—न्याय सू० १-१२
- ३४—सा० का० २७
- ३५—श्रुतं पुनः श्रुतज्ञानसमधिगम्यं वस्तूच्यते, विषये विषयिण उपचारात्...  
—तत्त्वा० श्लो० २।११ पृ० ३२८
- ३६—तत्त्वा० श्लो० २-२१ पृ० ३२८
- ३७—मण्णिज्जमारो मणे... —भग० १३।७
- ३८—सव्वजीवाणंपिय णं अक्खरस्स अणंत भागो निच्चुग्घाडियो जइ पुण  
सो वि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पावेज्जा... —नं० ४३
- ३९—सुद्धवि मेहसमुदए, होइ पभाचंदस्सराणं... —नं० ४३
- ४०—सव्वजहणं चित्तं एगिन्दियाणं —दशवै० चूर्णि नं०
- ४१—स्त्यानध्युदयादव्यक्तचेतनानाम्... —आचा० वृ० १।१।२।१७
- ४२—जैन० दी० —३-४
- ४३—अणांता आभिणि वोहियं पज्जवा । —भग० ८२  
( देखिए वृत्ति और प्रज्ञा० पद-५ )
- ४४—स्या० मं० पृ० १४८
- ४५—इनका क्रम—अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा है ।
- ४६—त० वृ० वृ० २।८ पृ० १३१
- ४७—प्रज्ञा० प० १८
- ४८—(क) दिशामूढ अवलोक्य रे, पूरुव ने जासौ पश्चिम ।  
उदय भाव ए जोय रे, पिण ज्योपशम भाव नहिं ॥  
है चक्षु में रोग रे, वे चन्दा देखै प्रमुख ।  
ते छै रोग प्रयोग रे, तिम विपरीतज जाण वो ॥  
चक्षु रोग मिट जाय रे, तहा पछै देखै तिको ।

ए वेहुं जुदा कहाय रे, रोग अने बलि नेत्र ने ॥  
उदयभाव छै रोग रे, चक्षु क्षयोपशम भाव छै ।  
ए वेहुं जुदा प्रयोग रे, तिण विध ए पिण जाण वो ॥

—[ भग० जोड़ ३।६।६८।५१ से ५४ तक ]

(ख) चेतनास्वरूपत्वेऽनवरतं जानानेनैव भवितव्यं जीवेन, कुतो वा पूर्वोपलब्धार्थविषयविस्मरणम् ?

ज्ञानस्योपलब्धिरूपत्वेन व्यक्ततेत्यात्मनापि व्यक्तबोधेन भवितव्यं, नाव्यक्तबोधेन ।

निश्चयकत्वेन ज्ञानस्य न कदाचित् संशयोद्भवः स्यात् । ज्ञानस्य च निरवधित्वेनाशेषविषयग्रहणमापद्येत इति चेत् ? नैवं, कर्मवशवर्तित्वेनात्मन स्तज्ज्ञानस्य च विचित्रत्वात् । तथाहि कर्म निगड-नियन्त्रितोयमात्मा.....

...चलस्वभावो नानार्थेषु परिणममानः क्लृकलासवद् अव्यवस्थितोद्भ्रान्तमनाश्च कथमेकस्मिन्नर्थे चिरमुपयोगवान् । निसर्गत एवोत्कर्षादुपयोगकालस्यान्तर्मुहूर्तमानत्वाच्च । समुन्नतघनाघन-घनपटलाभिभूतमूर्तेर्भास्वतः प्रकाशस्वरूपत्वेऽपि अस्पष्टप्रकाशोद्भववच्च... —न्या० पत्त० १७७

४६—(क) मतिज्ञानदर्शनावरणक्षयोपशमावस्थानिवृत्तौ यो ज्ञान सद्भावः क्षायोपशमिकः श्रोत्र लब्धिरुच्यते —जैन० तर्क० २।१८।पृ० १६७

[ ख ] अर्थ-ग्रहण शक्तिः लब्धिः... —लघी०

५०—(क) उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः —लघी० ५

[ ख ] क्षायोपशमिक ज्ञान में ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय—दोनों के क्षयोपशम की अपेक्षा होती है ।

५१—जैन० दी० २।२८

५२—जैन० दी० २।२८

५३—श्रोत्रादिक्षयोपशमलब्धौ सत्यां निवृत्तिः शष्कुल्यादिका भवति, यस्य तु लब्धिर्नास्त्येवं प्रकारा न खलु तस्य प्राणिनः शष्कुल्यादयोऽवयवानिवर्तन्ते । तस्माल्लब्ध्यादयश्चत्वारोऽपि समुदिताः शब्दादि-

विषयपरिच्छेदमापादयन्तः इन्द्रिय व्यपदेशमश्नुवते । एकेनाप्यवयवेन विकलमिन्द्रियं वोच्यते, न च स्वविषयग्रहणसमर्थं भवति...

[ त० भा० २।१६ पृ० १६८ ]

५४—स्या० मं० १७, पृ० १५३

५५—यदा शब्दोपयोगवृत्तिरात्मा भवति तदा न शेषकरण-व्यापारः स्वल्पोप्यन्यत्र कान्तद्विष्टाभ्यस्त विषयकलापात् । अर्थान्तरोपयोगे हि प्राच्यमुपयोगव्रलमात्रियते कर्मणा, शंख शब्दोप्युक्तस्य शृङ्ग शब्दविज्ञान-मस्तमिततन्निसं भवति, अतः क्रमेण उपयोग एकस्मिन्नपि इन्द्रिय-विषये, किमुत बहुविधविशेषभाजीन्द्रियान्तरे, तस्मादेकेन्द्रियेण सर्वात्मनोपयुक्तः सर्वः प्राण्युपयोगं प्रति एकेन्द्रियो भवति ।

—त० भा० २।१६ पृ० १६६ ]

५६—चेतना व्यापार उपयोगः —जैन० दी० २।३

५७—उपयोगस्तु द्विविधा चेतना...संविज्ञान लक्षणा अनुभवलक्षणा च । तत्र घटाद्युपलब्धिः संविज्ञान लक्षणा, सुख-दुःखादिसंवेदनानुभवलक्षणा, एतद्दु-भयमुपयोग ग्रहणाद् गृह्यते । —[ त० भा० २।१६ पृ० १६८ ]

५८—एगिंदिय विगलिंदियाशरीरवेयणं वेयंति, नो माणसं वेयाणं वेयंति

—( प्रज्ञा० पत्र० ३५ )

५९—(क) स्था० १०

(ख) आचा० नि०

६०—संज्ञानं संज्ञा, आभोग इत्यर्थः मनोविज्ञानमित्यन्ते—स्था० वृ० १०-७५२

६१—भग० २०।१,

६२—अकडं करिस्सामित्ति मण्णामाणे..... —आचा० १।२।१

६३—(क) ओघ-ज्ञानम्—ओघः सामान्यम्, अप्रविभक्त रूपम्, यत्र न स्पर्शानादीनीन्द्रियाणि तानि मनो निमित्तमाश्रयन्ते, केवलं मत्यावरणीयक्षयोपशम एव तस्य ज्ञानस्योत्पत्तौ निमित्तम्, यथा वल्ल्यादीनां निम्बादौ अभिसर्पणज्ञानं न स्पर्शननिमित्तं, न मनो निमित्तमिति तस्मात् तत्र मत्यज्ञानावरण क्षयोपशम एव केवलं निमित्तीक्रियते ओघ ज्ञानस्य ।—( त० भा० टी० १।१४ पृ० ७६ )

(ख) स्था० वृ० पृ० ५०५

- ६४—प्रज्ञा० प० ३५  
 ६५—प्रज्ञा० प० २३  
 ६६—स्था० १०-७०८  
 ६७—अपहृष्टि ए कोहे—निरालम्बन एव केवल क्रोध वेदनीयोदयादुपजायेत  
 —प्रज्ञा० प०-१४  
 ६८—प्रज्ञा० प० २८  
 ६९—हे ऊवएसेणं जस्स णं अस्थि अभिसंधारण पुव्विया करण सत्ती सेणं  
 सण्णीति लब्भई नं० १।४०  
 ७०—जेसि केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं, पडिक्कंतं, संकुचियं, पसारियं रुयं,  
 भंतं, तसियं, पलाइयं, आगइ-गई-विन्नाया—दशवै० ४।९  
 ७१—यो हि शिक्षाक्रियात्मार्थग्राही संज्ञी स उच्यते... —त० सा० ६३  
 ७२—अवग्रहेहावाय धारणाः । तत्त्वा० १।१५  
 ७३—मतिः, स्मृतिः, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध-इत्यनर्थान्तरम् ।  
 —तत्त्वा० १।१३  
 ७४—महा० पु० १८।११८  
 ७५—इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धि, ज्ञानं त्वागमपूर्वकम् ।  
 सदनुष्ठानवच्चैतद् - असंमोहोऽभिधीयते ॥  
 रत्नोपलम्भतज्ज्ञानं, तत् प्राप्त्यादियथाक्रमम् ।  
 इहोदाहरणं साधु, ज्ञेयं बुध्यादिसिद्धये ॥  
 रत्नोपलम्भ—इन्द्रिय और अर्थ के सहारे उत्पन्न होने वाली बुद्धि; जैसे—यह  
 रत्न है ।  
 रत्न-ज्ञान—आगम वर्णित रत्न के लक्षणों का ज्ञान ।  
 रत्न-प्राप्ति—सम्यक् रूप में उसे ग्रहण करना ।  
 ७६—तुलना कीजिए—अन्यत्र मना अभूवं नादर्शनन्यत्र मना अभूवं ना  
 श्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति । कामः, संकल्पो  
 विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृतिरधृति ह्रीं धीं भीं रित्येतत् सर्वं मनएव  
 —बृह० उप० १।५।३  
 ७७—(क) संबुडे भंते ! सुविणं पासइ, असंबुडे सुविणं पासइ, संबुडासंबुडे  
 सुविणं पासइ ।

गोयमा ! संबुडे वि सुविणं पासइ, असंबुडे वि सुविणं पासइ, संबुडा-  
संबुडे वि सुविणं पासइ । संबुडे सुविणं पासति अहातच्चं पासति ।  
असंबुडे सुविणं पासति तहा वा तं होज्जा, अन्नहावातं होज्जा संबुडा-  
संबुडे सुविणं पासति एवं चैव । —[ भग० १६।६ ]

(ख) सुमिणं दंसणे वा से असमुप्पण-पुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहा तच्चं सुमिणं  
पासितए ।—दशा० ५

७८—कतिविहे णं भंते ! सुविणं दंसणे पणत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे सुविणं दंसणे पणत्ते-तंजहा-अहातच्चे, पयाणे, चित्ता  
सुविणे, तव्वीवरीए, अवन्त दंसणे —भग० १६।६

७९—भग० जोड़ १६।६

८०—सुत्तेणं भंते ! सुविणं पासति जागरे सुविणं पासति सुत्त जागरे सुविणं  
पासति ?

गोयमा ! नो सुत्ते सुविणं पासई, नो जागरे सुविणं पासई सुत्त जागरे  
सुविणं पासई —भग० १६।६

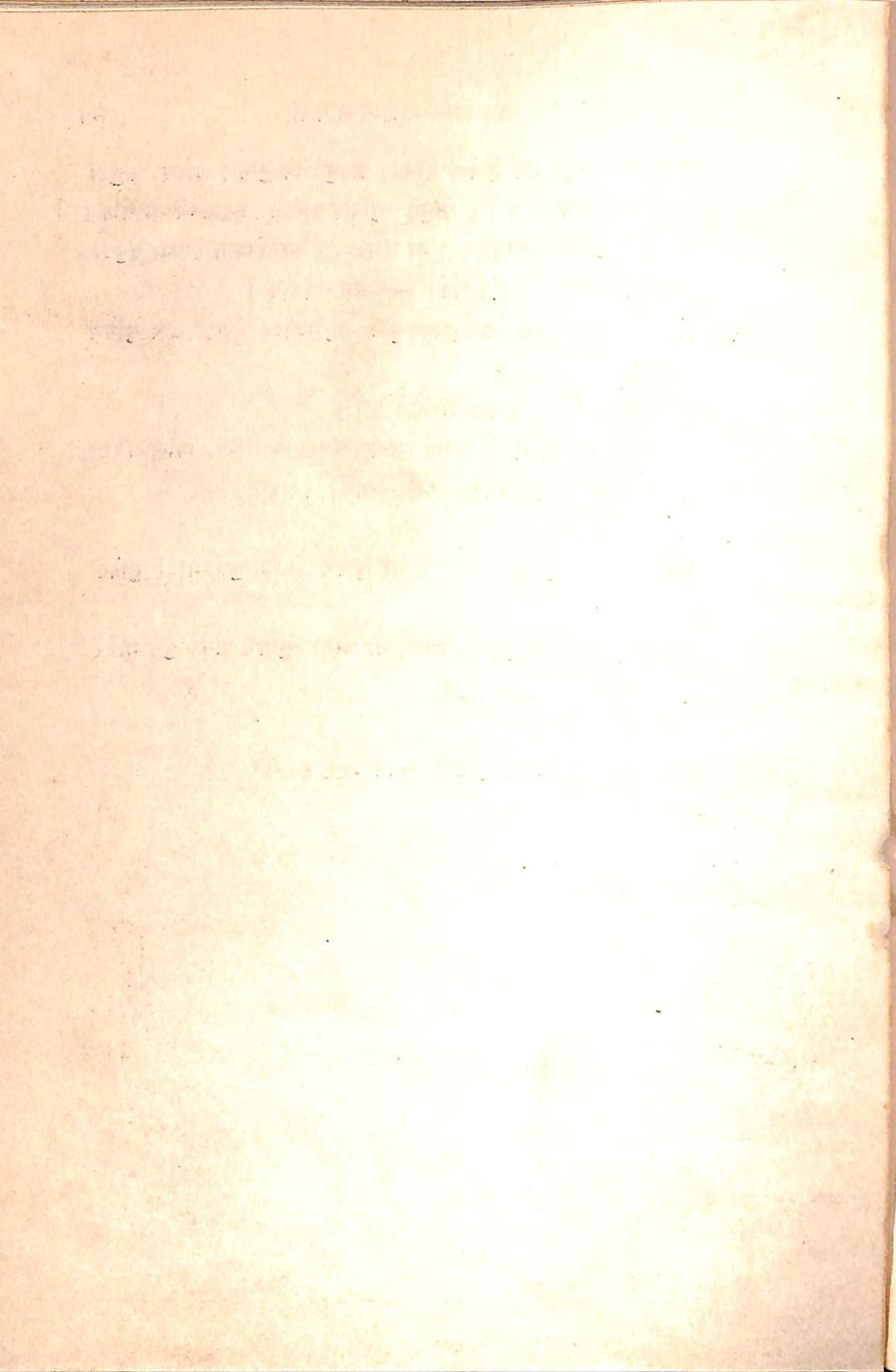
८१—शाब्दिक नय की दृष्टि से ।

८२—आव० ( मलय गिरीय वृत्ति ) —पत्र ४६६-५००

८३—शा० सु० १।७

८४—स्था० २।१

८५—स्था० २।१



इस ग्रन्थ की टिप्पण में आये हुए ग्रन्थों के नाम व उनके संकेत

अनुयोग द्वार —अनु०

अभिधर्म कोष —अभि० को०

अभिधान चिन्तामणिकोष —अभि० चि०

आचारांग —आचा०

आचारांग नियुक्ति —आचा० नि०

आचारांग वृत्ति० —आचा० वृ०

आवश्यक सूत्र —आव०

उत्तराध्ययन —उत्त०

चरकसूत्र स्थान —च० सू०

जैन तर्क भाषा —जैन० तर्क०

जैनसिद्धान्त दीपिका —जैन दी०

तर्कसंग्रह —तर्क सं०

तत्त्वार्थ भाष्य —त० भा०

तत्त्वार्थ वृत्ति —त० वृ०

तत्त्वार्थ सूत्र भाषानुसारिणी टीका —त० भा० टी०

तत्त्वानुशासन —तत्त्वा०

तत्त्वार्थ बृहद् वृत्ति —त० वृ० वृ०

तत्त्वार्थसार —त० सा०

तत्त्वार्थ सूत्र —त० सू०

तन्दुवैयालीय —तन्दुवै०

दशवैकालिक —दशवै०

दशवैकालिक चूर्णि —दशवै० चू०

दशाश्रुतस्कन्ध —दशा०

देवेन्द्रसूरि कृतस्वोपज्ञ वृत्ति गा०

जै० ज्ञा० मी०

- नन्दी वृत्ति —नं० वृ०  
 नन्दीसूत्र —नं०  
 नियमसार —निय०  
 न्याय सूत्र —न्याय० सू०  
 न्यायालोक —न्या०  
 न्यायसिद्धान्तमुक्तावलिकारिका —न्याय० सि० मु० का०  
 प्रमाण नयतत्वालोकाङ्कार —प्र० न०  
 प्रमाण नयतत्त्व रत्नावतारिका —प्र० न० र०  
 प्रवचनसार —प्र० सा०  
 प्रश्न व्याकरण —प्रश्न० ( आख्य द्वार )  
 प्रज्ञापना —प्रज्ञा०  
 प्रज्ञापना वृत्ति —प्रज्ञा० वृ०  
 भगवती सूत्र —भग०  
 भाषापरिच्छेद —भा० प०  
 भिन्नन्यायकणिका —भिन्नु० न्याय०  
 महापुराण —महा० पु०  
 योगशास्त्र —योग०  
 लघीयसूत्र —लघी०  
 वात्स्यायन भाष्य —वा० भा०  
 विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति —वि० भा० वृ०  
 विशेषावश्यक भाष्य —वि० भा०  
 बृहत्कल्प भाष्य —बृ० भा०  
 बृहदारण्योपनिषद —बृह० उप०  
 सन्मतितर्क प्रकरण —सन्म०  
 सन्मतिप्रकरण टीका —सन्म० टी०  
 सर्वार्थ सिद्धि —सर्वा० सि०  
 सांख्यकारिका —सां० का०  
 ऋकृतांग वृत्तिसू —सू० वृ०

स्थानांगवृत्ति —स्था० वृ०

स्थानांगसूत्र —स्था०

स्वरूप सम्बोधन —स्व० सं०

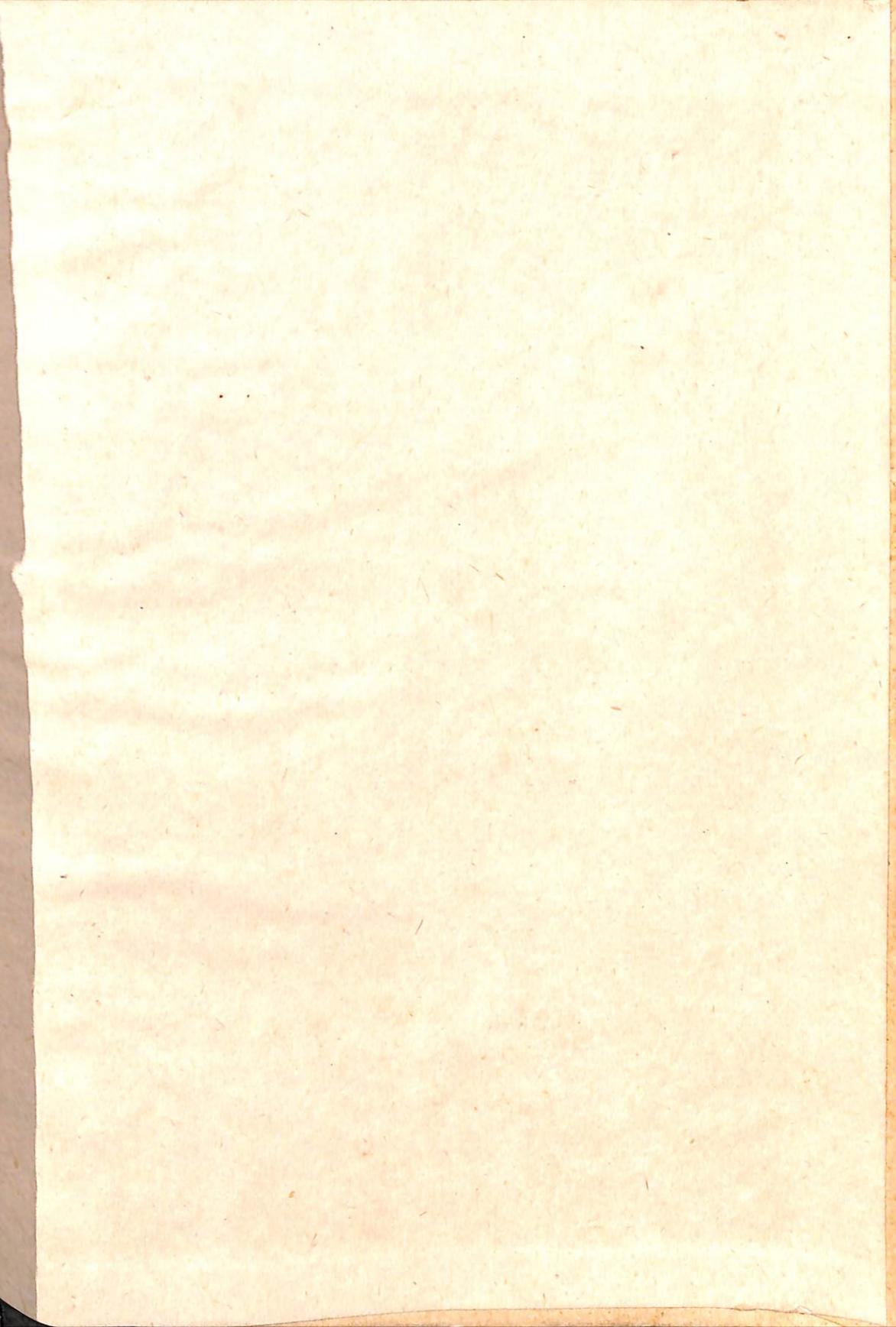
स्याद्वाद मञ्जरी —स्या० मं०

शान्त सुधारस —शा० सु०

ज्ञान बिन्दु —ज्ञा० वि०

ज्ञानसार —ज्ञा० सा०





सा विद्या या विमुक्तये  
आदर्श साहित्य संघ

